देखी सुनी

वर्ष 2010, अंक 14

स्वतंत्रता दमनकारियों द्वारा स्वैच्छिक रूप से नहीं दी जाती,
बल्कि इसकी मांग दमितों द्वारा की जाती है।

– मार्टिन लूथर किंग

प्रिय साथियों !

एक बार फिर देखी सुनी के ज़रिए हमारा प्रयास है कि, हम आप तक कुछ जरूरी सामाजिक मुद्दों पर जानकारी पहुचांए। इस अंक में हम लेकर आये हैं – महिलाओं पर होनेवाली हिंसाओं पर सामाजिक, कानूनी, सरकारी व आंदोलनकारी नज़रिया। इसमें शामिल हैः महिलाओं के चुनाव (व्यक्तिगत व राजनीतिक) का सवाल, फतवों की राजनीति, बलात्कार, हिरासत में होनेवाली पुलिसिया यातनाऐं, भोपाल गैस त्रासदी – तब से अब, दिल्ली के विकास का गैरबराबरी का ढांचा और परिणाम व महिला आरक्षण विधेयक पर विचार।

आशा करते हैं कि हमारी ये कोशिश आपके लिये सहयोगी साबित होगी। अपने सुझाव हम तक जरूर पहचांए।

नीतू रौतेला
जागोरी संदर्भ समूह

जादुई गोली के पचास साल

राजकिशोर

लेखक वरिष्ठ पत्रकार हैं।

स्त्री स्वतंत्रता के पक्षधरों को खुशी होनी चाहिए, क्योंकि पिल ने स्त्री समुदाय को प्राकृतिक जंजीर से मुक्ति दी है। अगर पिल न होता, तो यौन क्रांति भी न होती। यौन क्रांति न होती, तो स्त्री स्वतंत्रता के आयाम भी बहुत सीमित रह जाते।

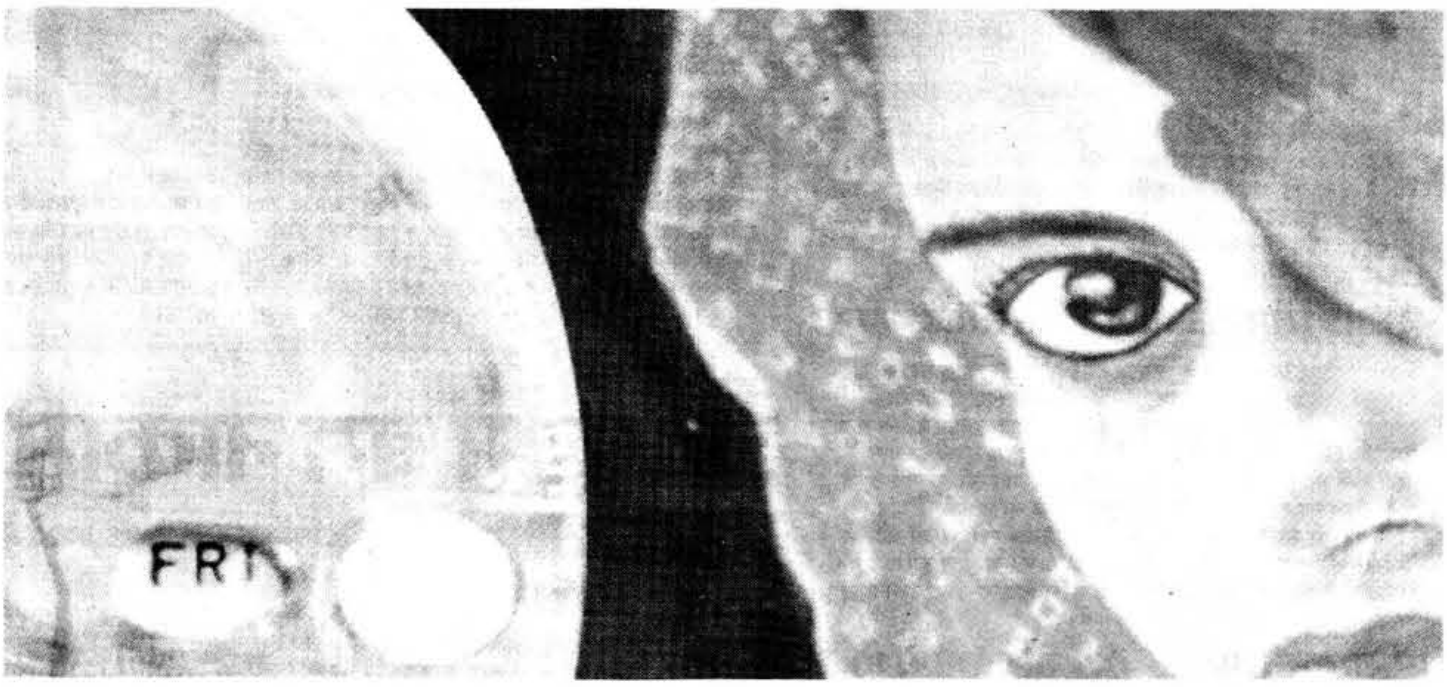

उस गर्भनिरोधक गोली को, जिसे अंग्रेजी की दुनिया में पिल कहते हैं, आधिकारिक मान्यता मिले हुए पचास साल हो गए। यह अवसर खुशी मनाने का है। स्त्री स्वतंत्रता के पक्षधरों को खास खुशी होनी चाहिए, क्योंकि पिल ने स्त्री समुदाय को एक बहुत बड़ी प्राकृतिक जंजीर से मुक्ति दी है। अगर पिल न होता, तो यौन क्रांति भी न होती। यौन क्रांति न होती, तो स्त्री स्वतंत्रता के आयाम भी बहुत सीमित रह जाते।

बेशक यह जादुई गोली उतनी महत्वपूर्ण नहीं है जितना पेनिसिलिन का आविष्कार, जिसने चिकित्सा के क्षेत्र में एक चमत्कार का काम किया। पिल का महत्व एसपिरिन या पैरासिटामॉल जितना भी नहीं है। लेकिन ये दवाएं हैं। पिल कोई दवा नहीं है। वैसे गर्भनिरोधक गोली का आविष्कार भी स्त्रियों में बांझपन का इलाज खोजने की प्रक्रिया में हुआ था। आज भी पिल का प्रयोग कई स्त्री रोगों का इलाज करने के लिए होता है, लेकिन अधिकतर मामलों में यह गर्भनिरोधक की तरह ही प्रयुक्त होता है और गर्भाधान कोई बीमारी नहीं है। लेकिन अनिच्छित गर्भाधान एक बहुत बड़ी समस्या जरूर है, जिसके कुफल स्त्री को ही भुगतने पड़ते हैं। कहा जा सकता है कि उसके लिए तो यह बीमारियों की बीमारी है। पिल ने उन्हें सुरक्षित और स्वतंत्र जीवन जीने का अवसर प्रदान किया है। इस मायने में यह छोटी-सी गोली जितनी जादुई है, उतनी ही क्रांतिकारी भी।

गर्भाधान की जिम्मेदारी सौंप कर प्रकृति ने स्त्रियों के साथ बहुत बड़ा अन्याय किया है। पुरुष के हिस्से सिर्फ आनंद और स्त्री के हिस्से आनंद के साथ-साथ एक बड़ी और लंबी जिम्मेदारी। इसी आधार पर अनेक स्त्रीवादी विचारकों का मत है कि स्त्री का शरीर तंत्र ही उसका सबसे बड़ा शत्रु है। रेडिकल मार्क्सवादी विचारक शुलामिथ फायरस्टोन मानती थीं कि जब तक स्त्री को गर्भाशय से मुक्ति नहीं मिलती, तब तक उसकी वास्तविक मुक्ति संभव नहीं है। गर्भाशय स्त्रियों को कई तरीकों से बाधित और कंडीशन करता है। यह उनके व्यक्तित्व को ही बदल देता है।

अनिच्छित गर्भाधान से छुटकारा पाने का प्रयास शायद उतना ही पुराना है, जितना मानव संस्कृति का इतिहास। गर्भाधान न हो और हो जाए तो उससे छुटकारा पाया जा सके, इसके लिए अनेक तरीके खोजे जाते रहे। उनमें से कोई भी तरीका संतोषजनक नहीं था। कुछ तरीके तो ऐसे थे, जिनसे स्त्री की जान पर बन आती थी। उस बेचारी को इज्जत और परिवार के सुख-चैन के लिए इस कठोर अग्निपरीक्षा से गुजरना पड़ता था। दुर्भाग्यवश आज भी दुनिया के बहुत बड़े इलाके में यह जारी है। इन इलाकों में हमारा अपना देश भी शामिल है। हर साल हजारों या क्या पता लाखों स्त्रियां अनचाहे गर्भ से मुक्ति पाने की प्रक्रिया में भयावह यंत्रणा सहती हैं और उनमें से अनेक तो जान से भी हाथ धो बैठती हैं। स्पष्ट है कि मानव स्वाधीनता के औजार अब भी कुछ खास देशों और एक खास वर्ग तक सीमित हैं। पिल भी ऐसा ही एक औजार है।

कुछ लोगों का मानना है कि पिल (और कंडोम) ने यौन अराजकता को बढ़ावा दिया है। अगर पिल न होता, तो स्त्रियां और पुरुष मर्यादा में रहते। पिल के कारण गर्भ निरोध की युक्ति इतनी आसान और इतनी कम खर्चीली हो गई है कि किसी को भी लंबे समय के रिश्तों में दिलचस्पी नहीं रही। मनुष्य पशुओं की तरह आचरण करने लगे हैं। यह आलोचना पूरी तरह निस्सार नहीं है, लेकिन इतना खतरा तो किसी भी नए आविष्कार के साथ जुड़ा होता है। सवाल यह है कि जब तक पिल बाजार में नहीं आया था, क्या दुनिया में व्यभिचार नहीं था? या यौन अराजकता नहीं थी? अपनी विवाहिता को साल-दर-साल गर्भवती करते जाना पुरुष सत्ता की यौन ज्यादती नहीं थी तो क्या था? पिल का सबसे अहम योगदान यह है कि यह स्त्री को अपने शरीर पर नियंत्रण प्रदान करता है और इस तरह उसे स्वाधीन बनाता है। सच यह है कि स्वतंत्रता का वातावरण और पिल, दोनों लगभग साथ-साथ आए। इसे सामाजिक विकास और वैज्ञानिक विकास का युग्म कहा जा सकता है। दोनों का ही ज्ञान और चेतना के प्रसार से गहरा संबंध है। ज्ञान की पुरानी अवस्था में न तो पिल की खोज की जा सकती थी और न ही चेतना की पुरानी अवस्था में इसका प्रयोग उतना व्यापक हो सकता था, जितना आज है।

वस्तुतः, जिस यौन अराजकता की बात की जाती है, वह पिल की नहीं, वर्तमान उपभोक्ता संस्कृति की देन है। हां, पिल ने जिस एक महत्वपूर्ण सत्य से हमारा साक्षात्कार कराया है, वह यह है कि यौन समागम कोई उतनी बड़ी घटना नहीं है जितना इसे बना दिया गया है।

सवाल यह भी है कि स्वतंत्रता का दुरुपयोग किसे कहेंगे? स्त्री के संदर्भ में क्या पुरुष अपनी स्वतंत्रता का दुरुपयोग हजारों वर्षों से नहीं करता आया है? लेकिन पिल ने अगर इन पचास वर्षों में स्त्री को यह चुनने की आजादी दी है कि जब वह चाहे, तभी गर्भाधान हो और औरत इसका लाभ उठाती है, तो किस तर्क से इसे स्वतंत्रता का दुरुपयोग कहा जा सकता है? वस्तुतः, जिस यौन अराजकता की बात की जाती है, वह पिल की नहीं, वर्तमान उपभोक्ता संस्कृति की देन है। हां, पिल ने जिस एक महत्वपूर्ण सत्य से हमारा साक्षात्कार कराया है, वह यह है कि यौन समागम कोई उतनी बड़ी घटना नहीं है जितना इसे बना दिया गया है। यह वैसा ही एक मानव व्यवहार है जैसा खाना, पीना या चलना-फिरना। पिल का शुक्रिया कि उसकी मदद से हम एक बहुत बड़े मिथक से मुक्त हो पाए हैं, जिसने मानव जीवन को नरक बना रखा था।

truthonly@gmail.com

फतवों का व्यावहारिक पहलू

ज्वलंत प्रश्न

जवाहरलाल कौल

दारुल उलूम को मुस्लिम समाज के बारे में फतवे देने का अधिकार है कि नहीं, यह तो मुस्लिम समाज ही त्य करेगा लेकिन उलेमा को इस पर गंभीरता से सोचना चाहिए कि इस तरह क्या वे मुंलसलमानों का भला कर पाएंगे? जिस काम से समाज दूसरों के मुकाबले पिछड़ा रह जाए, वह खुदा की मंशा तो नहीं हो सकती। रही बात शर्मो-हया बचाने की तो वह केवल पर्दे से ही बचेगी, इसकी गारंटी न आज का समाज दे सकता है और न अतीत के समाजों ने दी थी

दारुल उलूम का फिर फतवा आया है। साफ है कि फतवा मुसलमान औरतों के बारे में ही आया होगा। हर समाज में औरत के बारे में कठोर नियम-कायदे बनाना और निषेधात्मक आदेश जारी करना सबसे आसान और आम बात रही है। आज ही नहीं, जमाना कदीम से यही होता आया है। याद होगा कि शाहबानो के मामले ने देश में कितना बड़ा बवाल खड़ा किया था। लेकिन आज जिस तरह का फतवा आया है उसे लागू करवाना असंभव भले न कहा जाए लेकिन बहुत ही कठिन है।

देवबंद के दारुल उलूम के मौलाना खुर्शीद आलम और मुफ्ती अहसान काजिमी के नाम से जारी इस फतवे में मुसलमान औरतों को बिना पर्दे के काम पर जान मना कर दिया गया है। अव्वल तो औरत का नौकरी करना ही ठीक नहीं क्योंकि उसका काम तो घर संभालना है, रोजी कमाना नहीं। फतवे में नौकरी करने पर पूरी तरह पाबंदी तो नहीं लगाई गई है, लेकिन अगर नौकरी करने की मजबूरी ही हो तो कार्यालय में औरतें वहां बैठें जहां अधिकतर औरतें बैठतीं हो। मर्दों के साथ न बैठें। अगर खुदा न खास्ता वहां एक ही औरत काम कर रही हो तो इस बात की एहतियात बरतनी चाहिए कि वह मर्दो से अलग जाकर किसी सुरक्षित जगह पर बैठा करे।

दारुल उलूम के फतवा विभाग का कहना है यह औरतों के विरुद्ध कार्रवाई नहीं है। इस व्यवस्था को इस्लाम में औरतों की सुरक्षा के लिए बनाया गया है। यह रसूल का हुकुम है कि औरतें अपनी शर्मो हया बचाने के लिए पर्दा करें।

इस बहस में जाना व्यर्थ है कि इस्लाम ने औरतों को पर्दे में रहने की हिदायत क्यों दी क्योंकि हर सभ्यता के आरंभिक चरण में सामाजिक और राजनीतिक स्थितियां ऐसी थीं कि औरतों को हर समय सुरक्षा की आवश्यता होती थी, इसलिए पर्दे की व्यवस्था किसी न किसी रूप में हर देश और हर समाज में रही है। हमारे देश में भी कई गैर मुस्लिम समाजों में आज भी औरतें पर्दे में रहती हैं, चाहे उसका रूप वैसा ही न हो जैसा मुसलमानों में है। हिंदू समाज में भी कुछ जातियों में औरतों का नौकरी करना अच्छा नहीं माना जाता। कई वर्गो में लड़कियों को प्राथमिक स्कूल से आगे केवल इसलिए नहीं पढ़ाया जाता कि उन्हें लड़कों के साथ बैठ कर पढ़ना होगा इसलिए पर्दे की समस्या केवल मुसलमानों की समस्या नहीं है। उनके संदर्भ में वह इसलिए अलग बन जाती है कि इस्लाम में फतवा जारी करने की व्यवस्था है जबकि और समाजों में स्थानीय तौर पर ही यह प्रथा जारी रहती है- फतवे की कोई केंद्रीय व्यवस्था नहीं है। फतवे के पीछे शरीयत की पुष्टि का दावा इसे बहुत महत्वपूर्ण बनाता है जिसे स्थानीय समस्या कह कर टाला नहीं जा सकता है।

शरीयत के अधिकार क्षेत्र में अनावश्यक हस्तक्षेप न करते हुए केवल इसके व्यावहारिक पक्ष की ओर ही समाज और मुस्लिम उलेमा का ध्यान आकर्षित करने का प्रयास किया जा सकता है। हम जिस युग में रह रहे हैं, उसके दो बड़े संचालक अर्थशास्त्र और विज्ञान हैं। दोनों के मिलन के कारण जो व्यवस्था बन गई है, उसमें कोई समाज अपने पचास प्रतिशत सदस्यों को आर्थिक गतिविधि से बाहर रख ही नहीं सकता है। यह शायद जागीरदारी युग में संभव रहा होगा, आज नहीं है । खासकर उन वर्गो में तो कतई नहीं, जो रोज कमाकर खाते हैं। हमारे खेतों में, हमारे निर्माण स्थलों पर पुरुषों के साथ स्त्रियां भी काम में लगी रहती हैं। यह केवल हिंदू या ईसाई महिलाओं की वास्तविकता नहीं है, मुसलमान औरतों की भी है। उन्हें कैसे कहा जाएगा कि तुम पर्दे में रहकर धान रोपों या फसल कटाई करो या चाय की पत्तियां तोड़ो? कश्मीर जैसे जिन क्षेत्रों में मुसलमानों की आबादी अधिक है वहां तो औरतें दुकान भी चलातीं हैं- चाहे वह बेकरी की हो या सब्जी की।

मजदूर पेशा औरतों पर पर्दे का हुकुमनामा लागू करने का मतलब होगा, उन की रोजी-रोटी छीनना। इसे लागू करने के लिए तो सरकार को ऐसे कामों में आरक्षित नारी क्षेत्र बनाने होंगे। लेकिन अगर यह फतवा वहां लागू नहीं करना है और केवल मुस्लिम समाज के शहरी तबके पर ही इसे लागू होना है तो सवाल दीगर है लेकिन है बहुत महत्वपूर्ण। क्या दारुल उलूम चाहता है कि मुसलमान औरतें ऊंची शिक्षा हासिल ही न करें? मान लिया जाए कि उच्च माध्यमिक शिक्षा तक लड़कियों और लड़कों के लिए अलग-अलग स्कूल खोले जाएंगे तो क्या विश्वविद्यालयों को भी केवल महिलाओं के लिए बनाया जाएगा? क्या यह संभव है? क्या प्रयोगशालाओं में वैज्ञानिकों के लिए केवल महिला क्षेत्र बनाने होंगे ?

दारुल उलूम को मुस्लिम समाज के बारे में फतवे देने का अधिकार है कि नहीं, यह तो स्वयं मुस्लिम समाज ही तय करेगा लेकिन उलेमा को इस बात पर गंभीरता से सोचना चाहिए कि इस तरह वे मुसलमानों का कोई भला कर पाएंगे? जिस काम से समाज दूसरों के मुकाबले पिछड़ा रह जाए, वह खुदा की मंशा तो नहीं हो सकती। रही बात शर्मो हया को बचाने की तो वह केवल पर्दे से ही बचेगी- इसकी गारंटी न तो आज का समाज दे सकता है और न ही अतीत के समाजों ने दी थी।

फतवों में घुटती आधी मुस्लिम आबादी

आरफा खानम शेरवानी

लेखिका पत्रकार हैं।

इस्लामिक सेमीनरी देवबंद से कामकाजी महिलाओं पर आए फतवे और उसके बाद की रिपोर्टें और टेलीविजन विमर्श ने मुस्लिम कामकाजी महिलाओं के सामने एक बड़ा संकट खड़ा कर दिया है कि अगर वे फतवे को मानकर नौकरी छोड़ती हैं, तो जीवन-भर के लिए आर्थिक स्वतंत्रता खो बैठती हैं। अगर नौकरी जारी रखती हैं, तो यह धर्म की अवहेलना करेंगी। इस पूरे विमर्श में सबसे दुखद बात यह है कि टीवी पत्रकारों से लेकर अपने को इस विषय के विशेषज्ञ कहलाने वालों तक ने इतनी तकलीफ नहीं की कि पहले मूल फतवा पढ़ लेते।

देवबंद, दारूल-इफ्ता की वेबसाइट पर फतवे का मूल पाठ मौजूद है। एक महिला के जरिए सवाल पूछा गया था कि 'क्या एक महिला का किसी सरकारी या गैर-सरकारी महकमे में काम करना जायज है? इस नौकरी से प्राप्त किए गए वेतन को क्या माना जाएगा- हलाल, हराम या नाजायज?' देवबंद के चार मुफ्तियों ने अपनी राय में कहा, 'जहां पुरुषों और महिलाओं को साथ काम करना हो और महिलाओं को पुरुषों से बेबाकी से बात करनी पड़े, वहां मुस्लिम महिला का काम करना जायज नहीं।' मीडिया में आई तमाम रिपोर्टों के उलट इसमें कहीं पर भी महिला के वेतन को हराम घोषित करने की बात नहीं की गई है।

इससे पहले कि हम यह बहस करें कि इस फतवे के बाद मुस्लिम महिला को काम करने की आजादी है या नहीं, यह समझने की जरूरत है कि फतवा कोई कानूनी फरमान नहीं, बल्कि एक मुफ्ती (इस्लामिक पद्धति की शिक्षा के अनुरूप डिग्री को हासिल करने वाला व्यक्ति) की राय होती है। यह राय उस मुफ्ती की इस्लाम की अपनी समझ पर आधारित होती है। यानी एक ही मुद्दे पर अलग-अलग मुफ्तियों की राय अलहदा हो सकती है। यह राय वह व्यक्ति

ऐसे फतवों से मुसलमानों का बड़ा तबका प्रभावित नहीं होता। लेकिन सबसे बड़ी क्षति शायद उस छवि को पहुंचती है, जिसे बनाने में दशकों लगते हैं।

मांगता है, जो किसी मुद्दे को लेकर उलझन में हो। दुनिया भर में फतवे सिर्फ मांगने पर ही दिए जाते हैं। अब यह उस व्यक्ति विशेष की धर्म में आस्था और उसके विवेक पर निर्भर करता है कि वह इस मार्गदर्शन का कितना पालन करता है। मुफ्ती के पास न यह जानने का कोई जरिया है कि उसकी राय का पालन हुआ या नहीं और न ही कोई बल, जिसके द्वारा वह इसका पालन करा सके। याद रखने वाली बात है कि किसी खास किस्म के हालात पर, एक खास व्यक्ति को दिया गया फतवा पूरे समुदाय पर समान रूप से लागू नहीं होता। एक और महत्वपूर्ण बात यह है कि मुफ्ती का दिया फतवा दरअसल एक आदर्श माहौल में, इस्लाम के उसूलों पर चलते हुए एक आदर्श मुस्लिम के जरिए किए जाने वाले आचरण को बताता है। एक मुसलमान से उम्मीद की जाती है कि वह सामाजिक कर्तव्यों का पालन करते हुए, जिस हद तक संभव हो इसका पालन करे।

अब इस फतवे पर आते हैं। इस्लामिक इतिहास बताता है कि पैगंबर साहब के परिवार से जुड़ी महिलाएं न सिर्फ सफल कारोबारी रही हैं, बल्कि उनमें से कुछ ने तो पुरुषों के वर्चस्व वाले क्षेत्रों, जैसे युद्ध तक में हिस्सा लिया है। कहना मुश्किल है कि ये काम करने के दौरान उनका किसी गैर मर्द से किसी तरह का कोई संपर्क नहीं रहा होगा। सवाल यह भी है कि ये फतवे आखिर सिर्फ महिलाओं के लिए ही क्यों आते हैं? क्या भारत में ऐसा कोई सरकारी या गैर-सरकारी महकमा है, जिसमें सिर्फ पुरुष ही काम करते हों? ऐसे में किसी मुस्लिम पुरुष के लिए क्या यह इस्लामिक होगा कि वह मिश्रित लिंग वाले दफ्तर में काम करे? इस्लाम कहता है कि मुस्लिम पुरुष किसी महिला को घूर कर न देखे, बल्कि उसके सामने अपनी नजरें नीची कर ले। पर्दे और धर्म को लेकर जितनी फिक्र महिलाओं को लेकर दिखाई देती है, उसका एक छोटा हिस्सा भी पुरुषों के लिए नहीं दिखाई देता। महिलाओं के सामने नजरें नीची न करने वाले कितने पुरुषों के लिए अब तक फतवा जारी किया गया है? क्या मार्गदर्शन सिर्फ महिलाओं के लिए है?

सच्चर कमेटी ने समुदाय और देश के सामने एक गंभीर समस्या को उजागर किया है। उसने बताया कि 101 में सिर्फ एक मुस्लिम लड़की ही कॉलेज का दरवाजा देख पाती है और जैसे-तैसे जो लड़कियां पढ़-लिख पाई हैं व नौकरी करने लायक बन पाई हैं, उनको इस तरह के फतवे घर की चारदिवारी में बंद कर देना चाहते हैं। ऐसे फतवों से न सिर्फ मुस्लिम महिलाओं की आर्थिक-सामाजिक स्वतंत्रता दांव पर लगती है, बल्कि बंद-खिड़की दरवाजों वाली अपनी इस दुनिया में कैसे वह नई नस्ल की परवरिश करेगी, इसका अंदाजा लगाया जा सकता है।

यह जरूर है कि ऐसे फतवों से मुसलमानों का बड़ा तबका प्रभावित नहीं होता। लेकिन सबसे बड़ी क्षति शायद उस छवि को पहुंचती है, जिसे बनाने में दशकों लगते हैं। ऐसा ही एक फतवा फिर से उन्हें सदियों पीछे छोड़ आता है।

arfakhanum@gmail.com

आधी आबादी को गुलाम बनाती फतवेबाजी

देवबंद से एक बार फिर फतवा जारी हुआ है- मुस्लिम महिलाएं अगर बिना परदा बाहर निकलेंगी और मर्दों से बात करेंगी तो उन पर मजहबी कार्रवाई की जाएगी। देश की एक बड़ी मुसलिम संस्था से इस तरह के फतवे जारी किया जाना कोई मामूली बात नहीं है। ऐसा इसलिए क्योंकि देश की सर्वोच्च अदालत की फटकार और फतवेबाजी को गैर-कानूनी करार दिए जाने के बावजूद कोई भी संगठन देश के कायदे-कानूनों की उपेक्षा कैसे और क्यों कर सकता है? और वो भी तब, जब उसी मजहब की आधे से ज्यादा आबादी इन फतवों को नकारने पर आमादा है। चिंता का विषय यह भी है कि फतवेबाजी की सच्चाई को कोई ठीक से जानता भी नहीं है और सीधी-सादी आम जनता इन फतवों से डर कर अपनी महिलाओं पर ज्यादतियां करती जाती है।

सुनीता ठाकुर

लेखिका पत्रकार हैं।

फतवा मजहबी जानकारों द्वारा जाहिर राय होती है, जिसे उन्होंने भय पैदा करने के औजार के रूप में इस्तेमाल किया है। इसकी आड़ में औरतों को गुलामी का पाठ पढ़ाया जाता है।

जानकारों की मानें, तो फतवा सिर्फ मजहबी जानकारों या विशेषज्ञों द्वारा किसी मामले में जारी एक राय होती है, जिसे उन्होंने भय पैदा करने के औजार के रूप में इस्तेमाल किया है। इस भय की आड़ में औरतों को गुलामी का ऐसा पाठ पढ़ाया गया है कि वे आज तक बुरके और परदे की दुनिया से बाहर आने में भय खाती हैं। परदा, घूंघट या एक बुरका ओढ़ने भर से यदि उन्हें धार्मिक सुरक्षा मिलती हो, तो वे उसे कैसे छोड़ दें।

यह समझने की जरूरत है कि मजहबी फतवों, खाप पंचायतों या जाति पंचायतों के मनमानी फैसलों का भय जब तक जनता के मन से नहीं निकाला जाता और उसे संवैधानिक रूप से खारिज नहीं किया जाता, तब तक किसी भी धर्म या जाति में महिलाओं के खिलाफ हिंसा और दमन का दौर नहीं खत्म किया जा सकता। इसके अलावा ऐसी फतवेबाजी करने वालों के खिलाफ कानूनी कार्रवाई भी की जानी होगी। यही नहीं धर्म की आड़ में हर गलत कदम को आसानी से जायज करार देकर जनमानस में स्वीकृति दिलवा देने की कूटनीति का पर्दाफाश हर व्यक्ति को खुद करना होगा। कोई भी मजहब व्यक्ति की सुरक्षा और इंसानी हक को यदि खत्म करता हो, उसे आजाद और निर्भय जिंदगी जीने से रोकता हो, तो इस बारे में हमें खुद सोचना होगा कि आखिर हम क्या चाहते हैं।

एक बात और ध्यान देने वाली है कि आज तक किसी भी फतवे के उल्लंघन की वजह से किसी भी व्यक्ति को कोई सजा न तो दी गई है और न ही कभी दी जा सकती है। यह बात फतवा देने वाले और उसका पालन करने वाले दोनों अच्छी तरह से जानते हैं। इसलिए किसी भी फतवे का पालन करना या न करना दरअसल सबसे पहले व्यक्तिगत प्राथमिकता का सवाल है। लेकिन साथ ही इन पर व्यवस्थागत चोट करना भी जरूरी है।

sunitathakur_reebav@yahoo.co.in

इस निरंकुशता का अंत कीजिए

खाप पंचायतों के फरमान कहीं न कहीं जीने के सांविधानिक अधिकार को बंधक बनाते हैं

ज्वलंत मुद्दा

प्रकाश करात

तथाकथित इज्जत के लिए हत्या के एक मामले में करनाल के सत्र न्यायालय ने पिछले दिनों पांच लोगों को मौत और एक को आजीवन कारावास की सजा सुनाई। यह खाप पंचायत के फरमान पर इज्जत के लिए हत्या किए जाने की शर्मनाक तथा बर्बर प्रथा के खिलाफ हरियाणा में हुई पहली गंभीर कार्रवाई है। अदालत का यह फैसला युवा दंपति बबली तथा मनोज की नृशंस हत्या के प्रकरण में आया है। गौरतलब है कि वर्ष 2007 के जून महीने में उन दोनों की हत्या कर दी गई थी। उम्मीद की जानी चाहिए कि अदालत का यह फैसला हरियाणा सरकार व प्रशासन को इस बात के लिए जागृत करेगा कि वे समाज व जाति की कथित परंपराओं को लांघने वाले युवा जोड़ों के खिलाफ इस तरह की हत्यारी हरकतों को रोकने के लिए मजबूती से कदम उठाएं।

तथाकथित इज्जत के नाम पर हत्याएं हरियाणा तक ही सीमित नहीं हैं। पश्चिमी उत्तर प्रदेश, पंजाब और कुछ अलग-अलग हदों में देश के दूसरे विभिन्न हिस्सों में भी यह बीमारी व्यापक स्तर पर फैली हुई है।

खाप/जाति पंचायतें ऐसे युवक-युवतियों के खिलाफ सजा-ए-मौत समेत तरह-तरह की सजाएं सुनाती रही हैं, जो इन कथित पंचायतों के हिसाब से उनकी सामाजिक आचार संहिता को लांघते हैं। इनमें कथित रूप से भाईचारे से बंधे भिन्न गोत्रों के बीच विवाह पर पाबंदी भी शामिल है। हरियाणा की जातिगत पंचायतें अपनी इन संहिताओं का उल्लंघन करने वाले जोड़ों पर मध्ययुगीन तरीके के फैसले थोपती आई हैं। जाहिर है, अगर मामला दलित युवक और किसी सवर्ण युवती की शादी का हो, तो इस तरह की पंचायतों के फरमान बदले की भावना से भरे होते हैं। सचाई यह है कि इज्जत के नाम पर हो रही हत्याएं किसी एक समुदाय तक सीमित नहीं हैं। मुसलिम और हिंदू समुदायों के युवक-युवतियों के बीच विवाह के मामलों में भी बेहद निर्दयता से सजाएं दी जाती हैं। वर्ष 2009 की जुलाई में मेरठ जिले में अफसाना और मनोज की शादी के बाद जो हुआ, वह इसकी जीती-जागती मिसाल है। लड़की के परिवार के लोगों ने अत्यंत निर्ममता से दोनों की हत्या कर दी थी।

दरअसल, इस जघन्य जातिवादी तथा सांप्रदायिक पूर्वाग्रह की जड़ में है स्त्री के प्रति रुख। हमारे देश में अब भी स्त्री को परिवार, जाति और समुदाय की संपत्ति की तरह देखा जाता है। महिलाओं को अपने शरीर पर भी संप्रभु अधिकार हासिल नहीं है और उनके कौमार्य को ही समुदाय की इज्जत माना जाता है।

इज्जत के लिए हत्या के विरुद्ध पहली बार अदालत का एक गंभीर फैसला आया है। क्या अब भी प्रशासन की आंखें खुलेंगी

तमाम सांविधानिक मूल्यों और भारतीय गणतंत्र में महिलाओं के दिए गए समस्त अधिकारों के बावजूद यह पितृसत्तात्मक रुख आज भी हावी है।

देश की राजधानी की सीमाओं से चंद किलोमीटर की दूरी पर इस तरह के सामंती दृष्टिकोण तथा बर्बर प्रथाओं के हावी रहते हुए बहुत लंबा अरसा गुजर चुका है। पूंजीवाद के विकास और ग्रामीण संपन्न तबके के उदय ने किसी भी तरह से इन जाति पंचायतों के असर को कम नहीं किया है। बल्कि इसके ठीक विपरीत पुलिस-प्रशासन तथा निर्वाचित प्रतिनिधियों की सक्रिय मिलीभगत से वे खूब फल-फूल रही हैं। कांग्रेस तथा आईएनएलडी जैसी राजनीतिक पार्टियों ने खाप पंचायतों के खिलाफ खड़े होने से इंकार कर दिया है। वजह सभी जानते हैं। इन पार्टियों को प्रभुत्वशाली जाति तथा अपने समर्थन आधार की नाराजगी का डर है। राजनीति के अमानवीय चेहरे की शायद यह सबसे दुखद नजीर है।

इस बात की मांग लगातार उठती रही है कि कानून बनाकर खाप पंचायतों को गैर-कानूनी घोषित किया जाए और इज्जत के नाम पर की जाने वाली हत्या के लिए अलग कानून बनाया जाए। पिछली कई वारदातों के बाद से यह मांग भी जोर पकड़ रही है कि इस तरह के मामलों की त्वरित सुनवाई के लिए विशेष अदालतें गठित की जाएं। लेकिन, केंद्र सरकार ने अब तक इस दिशा में कोई कदम नहीं उठाया है। अब, जब केंद्रीय गृह मंत्री ने इज्जत के नाम पर युवाओं के साथ होने वाली बर्बरता की सख्त भर्त्सना की है, तो वक्त आ गया है कि इस दिशा में ठोस कदम भी उठाए जाएं।

ऐसा नहीं है कि पंचायतों के बर्बर फैसलों के खिलाफ कोई आवाज नहीं उठती या चतुर्दिक सन्नाटा पसरा है। हरियाणा में ही खाप पंचायतों के अवैध फरमानों तथा हत्याओं के खिलाफ जनवादी महिला समिति की राज्य इकाई साहस के साथ संघर्ष करती आई है। घटना दर घटना महिला संगठन ने पीड़ितों तथा उनके परिजनों के पक्ष में आवाज उठाई है और इनमें बबली-मनोज प्रकरण भी शामिल है। अन्य राजनीतिक पार्टियों के विपरीत माकपा की हरियाणा राज्य इकाई ने भी खाप पंचायतों की गतिविधियों का खुलकर विरोध किया है।

इस संदर्भ में देश की दो बड़ी पार्टियों, कांग्रेस और भाजपा, की खामोशी कचोटती तो जरूर है, लेकिन वह अनपेक्षित नहीं है। इन दोनों पार्टियों का इतिहास बताता है कि इनकी राजनीतिक फसल सामाजिक-धार्मिक कट्टरताओं के बीच ही लहलहाती है। एक-दूसरे के विरुद्ध ध्रुवीकरण इन्हें सत्ता तक ले जाता है। इसलिए भी ये प्रतिगामी ताकतों के विरुद्ध कोई स्टैंड नहीं ले सकतीं। फिर यदि प्रगतिशील सोच हर समाज और प्रत्येक तबके में प्रवाहित हो गई, तो ये पार्टियां फतवों या फरमानों की फसल कैसे काट पाएंगी? जातिवादी संगठनों के फतवों ने इन दोनों दलों को कई चुनावों में सीधे-सीधे लाभ पहुंचाया है।

बहरहाल, सभी जनतांत्रिक शक्तियों को मिलकर यह मांग उठानी चाहिए कि इज्जत के नाम पर की जाने वाली हत्याओं के खिलाफ अलग से कानून बनाया जाए और खाप पंचायतों की देश के संविधान का अतिक्रमण करने वाली गतिविधियों को नियंत्रित करने के प्रयास किए जाएं। जब भी ऐसी कोई घटना घटती है, तो दोषियों के खिलाफ कड़ी और दूसरों को ऐसा करने से रोकने वाली कार्रवाई की जानी चाहिए। राजनीतिक पार्टियों की यह जिम्मेदारी बनती है कि वे अपनी मर्जी से शादी करने के अधिकार के पक्ष में खड़ी हों। अब वक्त आ गया है कि खाप पंचायतों की प्रतिगामी, महिला विरोधी सामाजिक प्रथाओं की निरंकुशता का अंत किया जाए। तमाम प्रगतिशील राजनीतिक व सामाजिक संगठनों का यह कर्तव्य है कि इन सामाजिक बुराइयों के खिलाफ अनथक अभियान चलाएं और जनता को जगाएं।

(लेखक माकपा के महासचिव हैं)

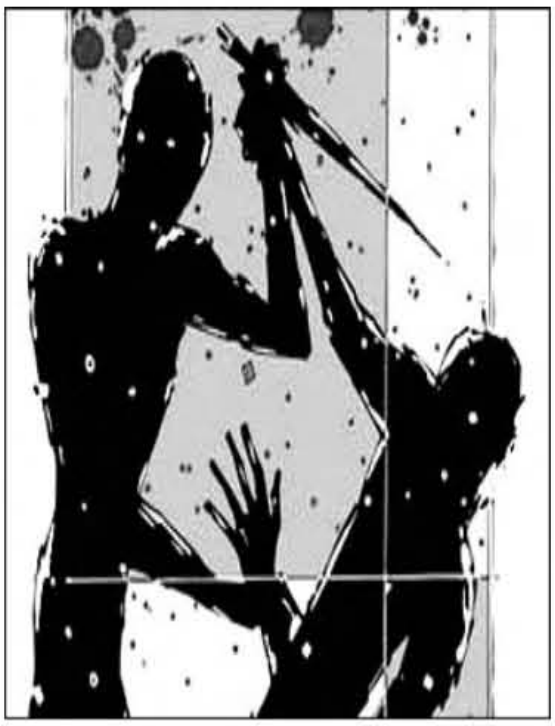

'ऑनर' शब्द का इस्तेमाल बंद करें

नई दिल्ली (एजेंसियां)। झूठी शान के लिए हत्या की सुर्खियों के बीच राष्ट्रीय महिला आयोग ने बुधवार को आग्रह किया कि इन खबरों में 'ऑनर' शब्द का इस्तेमाल बंद कर दें और किसी ऐसे उचित शब्द का इस्तेमाल करें जिससे यह जघन्य अपराध बेहतर तरीके से उजागर हो। न्यूज ब्रॉडकास्टर्स एसोसिएशन और ब्रॉडकास्ट एडिटर्स एसोसिएशन के साथ एक बैठक में राष्ट्रीय महिला आयोग की अध्यक्ष गिरिजा व्यास ने जोरदार आग्रह किया कि इन खबरों में 'आनर' यानी सम्मान शब्द के इस्तेमाल से बचें और इससे मिलते-जुलते ऐसे शब्द का इस्तेमाल करें जिसमें 'ऑनर'-जैसी कोई बात न होकर सिर्फ अपराध की जघन्यता जाहिर हो।

हमें क्या पता हत्या कहां होने वाली है

दिल्ली पुलिस का कहना है कि वह कैसे जानेगी कि किस घर में हत्या होने वाली है। तो क्या पुलिस कानून को खुली चुनौती देने वालों को गिरफ्तार भी नहीं कर सकती।

गुनहगारों से पुलिस की मिलीभगत का नतीजा है आनर किलिंग : दिल्ली हाईकोर्ट

पिछले दिनों दिल्ली हाईकोर्ट ने पुलिस की भूमिका को ही संदेह के घेरे में लेते हुए कहा था कि कई बार पुलिस उन परिवारों से मिल जाती है, जो इस तरह की वारदात करते हैं। अगर किसी पुलिस अधिकारी का कुत्ता खो जाता है तो पूरा महकमा उसकी खोज में जुट जाता है, वह लोगों की सुरक्षा नहीं कर पाती।

आनर किलिंग की रोकथाम के लिए क्या किया : सुप्रीम कोर्ट

हाल ही में सुप्रीम कोर्ट ने केंद्रीय गृह मंत्रालय, महिला एवं बाल विकास मंत्रालय तथा दिल्ली, हरियाणा, उत्तर प्रदेश व राजस्थान समेत नौ राज्यों को नोटिस जारी कर पूछा है कि इज्जत के नाम पर हो रही हत्याओं की रोकथाम के लिए आपने क्या किया।

अपने किए पर अफसोस नहीं

पिछले दिनों हरियाणा में भिवानी जिले के गांव निमड़ीवाली में प्रेमी युगल की हत्या में गिरफ्तार युवती के पिता कुलदीप एवं चाचा दलबीर ने कहा कि उन्हें अपने किए पर पछतावा नहीं है। मेरी जगह कोई भी होता तो यही करता।

जो हुआ ठीक हुआ

दिल्ली में हुई कुलदीप–मोनिका और शोभा की हत्या के संदिग्ध आरोपी मंदीप के चाचा धर्मवीर नागर ने बुधवार को कहा कि तीनों की हत्याओं से समाज में अच्छा संदेश जाएगा। ये कहीं से गलत नहीं है।

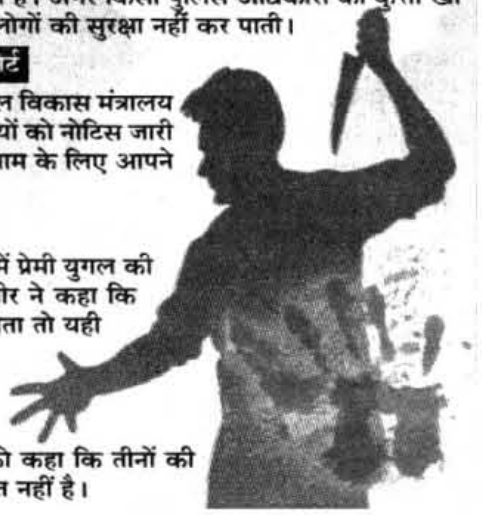

राजधानी में हो रही 'ऑनर किलिंग' के खिलाफ शुक्रवार को अखिल भारतीय महिला समिति की कार्यकर्ताओं ने प्रदर्शन किया।

ऑनर किलिंग के खिलाफ जंतर-मंतर पर प्रदर्शन

नई दिल्ली (एसएनबी)। इज्जत के नाम पर हरियाणा, राजस्थान, दिल्ली सहित देशभर के अन्य भागों में हो रही ऑनर किलिंग के खिलाफ दिल्ली के विभिन्न सामाजिक संगठनों ने शुक्रवार को जंतर–मंतर पर विरोध प्रदर्शन किया। सामाजिक संगठनों ने गृहमंत्री पी. चिदंबरम से ऑनर किलिंग के खिलाफ कड़े कानून लाने की मांग की। प्रदर्शन में डेमोक्रेटिक टीचर्स फेडरेशन, जनसंघर्ष महिला समिति, जनसमिति, स्टूडेंट फेडरेशन ऑफ इंडिया, डेमोक्रेटिक यूथ फेडरेशन ऑफ इंडिया व जनवाट्य मंच (जनम) के अलावा आल इंडिया डेमोक्रेटिक वुमंस एसोसिएशन के प्रतिनिधि व सदस्यों ने भाग लिया। प्रदर्शन के बाद जनम ने खाप पंचायतों के तालिबानी फरमान के विरोध में एक नुक्कड़ नाटक भी प्रदर्शित किया।

▶ सामाजिक संगठनों ने सरकार से कड़े कानून बनाने की मांग की

डेमोक्रेटिक टीचर्स फेडरेशन के राजीव ने अपने संबोधन में कहा कि खाप पंचायतों द्वारा सगोत्र विवाह को लेकर की जा रही ऑनर किलिंग एक घोर जघन्य अपराध है। उन्होंने इसे रोकने के लिए सरकार से कड़े कानून लाने की मांग की।

एसएफआई के रोशन ने कहा कि आज के आधुनिक युग में युवा पीढ़ी अपना विवाह अपनी मर्जी से करने के लिए स्वतंत्र है। अंतरजातीय विवाह से समाज से जात पात का भेद समाप्त होगा। सरकार युवा पीढ़ी की सोच को समझे और उसकी सुरक्षा के लिए सख्त कानून बनाए। जननाट्य मंच की माला हाशमी ने ऑनर किलिंग करने वालों को सामाज के कलंक की संज्ञा दी। उन्होंने कहा कि ऑनर किलिंग पर देश के कुछ नेता अपनी राजनीति चमका रहे हैं, उन्हें युवा पीढ़ी की कोई चिन्ता नहीं है।

बलात्कार के मामले में न्याय की नई किरण

संदर्भ

सुभाष गाताडे

बलात्कार के मामले में आरोपी के वकील द्वारा पीड़िता के चरित्र पर संदेह जताना पुराने दांवपेचों में शुमार होता रहा है।जाहिर है ऐसी किसी चर्चा से पीड़िता को मानसिक प्रताड़ना झेलनी पड़ती है और यह समूची कवायद उसे ही कटघरे में खड़ा करती दिखती है। आज से लगभग 27 साल पहले इसी को ध्यान में रखकर बलात्कार कानून में संशोधन पर विचार हुआ था

रेवती और कावेरी (बदले हुए नाम), जो कुछ समय पहले तक कर्नाटक के दक्षिण कन्नड जिले में अश्वत्थापुरा गांव में एक खदान में काम करती थीं, अब सुकून से सो सकेंगी। मुल्क की आला अदालत का फैसला उनके लिए ताजी बयार की तरह आया है। दरअसल दो दरिंदों के हाथों बलात्कार का शिकार हुई इन दोनों निरक्षर बहनों के लिए पिछले कई साल बेहद तनाव और अवसाद भरे रहे हैं। इनके साथ सन्तोष और सुरेन्द्र गौड़ा ने बलात्कार किया था। परिवार में अन्य किसी सदस्य के न होने के कारण प्रथम सूचना रिपोर्ट दर्ज करने में दोनों को 42 दिन लगे थे। उनके बयान को आधार बनाते हुए निचली और उच्च अदालत ने जहां उनके पक्ष में फैसला दिया था वहीं अत्याचारियों द्वारा खड़े किए गए नामी वकीलों ने एफआईआर दर्ज करने में हुए विलम्ब का मुद्दा उछालते हुए अदालत को छकाने की कोशिश की थी। इनके साथ हुए हादसे को पुष्ट करनेवाला अन्य कोई गवाह भी मौजूद नहीं था।

गौरतलब है कि सुप्रीम कोर्ट ने अन्ततः इन दोनों बहनों के बयानों को आधार मानकर निचली अदालत द्वारा बलात्कारियों को दी गई सजा पर मुहर लगा दी और काफी समय से चल रही इस कानूनी लड़ाई का अन्त हुआ। अदालत का कहना था, 'बलात्कार सम्बन्धी कोई भी बयान किसी महिला के लिए बेहद अपमानजनक स्थिति होता है और जब तक वह खुद यौन अपराध का शिकार न हो, वह वास्तविक अपराधी के अलावा अन्य किसी को दोषी नहीं ठहरा सकती।'

अन्य समर्थक गवाह मौजूद न होने के सन्दर्भ में एक अन्य मुकदमे को रेखांकित करते हुए अदालत ने यह भी कहा कि 'हमें इस तथ्य की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए कि यौन अत्याचार की शिकार स्त्री या लड़की को अपराध में सहभागी नहीं बल्कि दूसरे व्यक्ति की हवस का शिकार कहा जा सकता है। इसलिए यह अवांछित और अनुचित होगा कि हम उसके द्वारा पेश सबूत को सन्देह की निगाहों से देखें और उसके साथ ऐसा व्यवहार करें कि वह अपराध में शामिल रही हो।' निश्चित तौर सुप्रीम कोर्ट का यह फैसला बलात्कार पीड़िताओं के लिए उम्मीद की नयी किरण बन कर आया है, खासकर ऐसी स्थितियों के लिए जहां कोई अन्य गवाह मौजूद न हो या कहीं एकान्त में अत्याचार किया गया हो।

दूसरी तरफ यह समाचार भी पिछले दिनों सुर्खियों में रहा है कि सरकार भारतीय साक्ष्य अधिनियम 1872 की धारा 146 में संशोधन करना चाहती है। जानकार सूत्रों के मुताबिक प्रस्तावित संशोधन के जरिए वकीलों पर इस बात की रोक लगाई जाएगी कि वे जिरह के दौरान ऐसे सबूत पेश नहीं करेंगे या ऐसे सवाल नहीं पूछेंगे जिनमें पीड़ित महिला के अनैतिक चरित्र की बात की गई हो या किसी अन्य व्यक्ति के साथ उसके पूर्व यौन सम्बन्धों का जिक्र किया गया हो। इसके अलावा प्रस्तुत अधिनियम में एक नई धारा 53 ए भी जोड़े जाने का विचार है, जिसके जरिए यह सुनिश्चित किया जाएगा कि पीड़िता का चरित्र और उसके पूर्व यौन अनुभव वर्तमान मामलों में यौन सम्बन्धों के लिए उसकी सहमति साबित करने के मुद्दे पर प्रासंगिक न हों।

गौरतलब है कि बलात्कार के मामलों में आरोपी के वकील द्वारा पीड़ित के चरित्र पर सन्देह जताना इस पेशे के पुराने दांवपेचों में शुमार होता रहा है। जाहिर है ऐसी किसी चर्चा से पीड़िता को मानसिक प्रताड़ना झेलनी पड़ती है और यह समूची कवायद उसे ही कटघरे में खड़ा करती दिखती है। आज से लगभग 27 साल पहले इसी बात को ध्यान में रखकर बलात्कार कानून में संसोधन पर विचार हुआ था। आदिवासी युवती मथुरा बलात्कार कांड में सुप्रीम कोर्ट ने तीस साल पहले जो ऐतिहासिक फैसला सुनाया था उसके बाद पीड़िता के निजी इतिहास की बात करना अनुचित व गैरजरूरी माना गया। 1983 में सामने आए संशोधनों के बाद जब नया कानून बनाया गया तो इसमें इन पहलुओं के प्रति पर्याप्त संवेदनशीलता बरती गयी। इसके अलावा हमारे पितृसत्तात्मक समाज में जिस तरह बलात्कार के बाद पीड़िता के ही सामाजिक बहिष्कार की स्थिति बनती दिखती है, उसके मद्देनजर सर्वोच्च न्यायालय ने पीड़ित महिला की पहचान को गोपनीय रखने पर हमेशा जोर दिया।

दूसरी तरफ हम यह भी पाते हैं कि कानून की किताब में समयानुसार बदलाव और जमीनी हकीकत के बीच गहरा अन्तराल बना ही रहा है। कुछ माह पहले की ही बात है जब असम की एक लड़की के साथ हुए बलात्कार के मामले में अदालत का रुख सकारात्मक नहीं था। नमिता (बदला हुआ नाम) अब 28 साल की हो गयी है। उस स्याह दिन को याद कर उसकी रूह कांप जाती है जब तेरह साल की उम्र में असम के कामरूप शहर के एक होटल में उस पर अत्याचार हुआ था। वह पास के मोहल्ले में घरेलू नौकरानी का काम करती थी और आरोपी भी उसी इलाके में रहता था। उसका कहना था कि 7 जनवरी 1995 को आरोपी उसे इलाके के एक होटल में ले गया और उसने उसके साथ तीन बार बलात्कार किया। इस सम्बन्ध में अगले दिन प्रथम सूचना रिपोर्ट दायर की गयी। इस मामले में अदालत में पीड़िता के निजी जीवन को लेकर कई टिप्पणियां हुईं। उसके द्वारा होटल में चिल्लाने या शोर न मचाने का भी अदालत ने विशेष उल्लेख किया था।

जाहिर है, इस फैसले ने नमिता ही नहीं बल्कि नारी अस्मिता की बेहतरी के लिए प्रयत्नशील लोगों, समूहों के सामने भी नए सवाल खड़े किए थे ! और वह पूछने के लिए मजबूर हुए थे कि क्या बलात्कार के किसी मामले को खारिज करते हुए अदालत अभियोजन पक्ष की कमजोरियां, प्रथम सूचना रपट तैयार करने में बरती गयी लापरवाही, गवाहों का बयान पलटना आदि के साथ पीड़िता के चरित्र की बात कर सकती है? इस मामले में हाईकोर्ट के फैसले को पलटने के लिए भले ही पुलिस की जांच की तमाम खामियों को आधार बनाया गया था, लेकिन एक सवाल बराबर उद्वेलित करता ही करता है कि यौन अत्याचार को लेकर कुछ मामलों में अभी भी हम किस हद तक पितृसत्तात्मक दायरों में कैद हैं और पिछड़ी यौन नैतिकता में धंसे हैं।

यौन अत्याचार कानूनों में संशोधन का सवाल

बलात्कार के मामलों में आरोपी के वकील द्वारा पीड़िता के चरित्र पर संदेह जताना इस पेशे के पुराने दांवपेंचों में शुमार होता रहा है। जाहिर है यह समूची कवायद पीड़िता को ही कठघरे में खड़ा करती दिखती है।

सुभाष गाताडे लेखक वरिष्ठ पत्रकार हैं।

बलात्कार कानूनों में संशोधन का सवाल लंबे समय से विचारणीय रहा है। पिछले दिनों खबर आई है कि देश की हुकूमत भारतीय साक्ष्य अधिनियम 1872 की धारा 146 में संशोधन करना चाहती है। जानकार सूत्रों के मुताबिक प्रस्तावित संशोधन के जरिए वकीलों पर इस बात की रोक लगाई जाएगी कि वे जिरह के दौरान ऐसे सबूत पेश नहीं करेंगे या सवाल नहीं पूछेंगे जिनमें पीड़ित के अनैतिक चरित्र की बात की गई हो या किसी अन्य व्यक्ति के साथ उसके पूर्व यौन संबंधों का जिक्र किया गया हो। इसके अलावा, प्रस्तुत अधिनियम में एक नई धारा 53ए भी जोड़े जाने का विचार है, जिसके जरिए यह सुनिश्चित किया जाएगा कि पीड़िता का चरित्र और उसके पूर्व यौन अनुभव वर्तमान मामलों में यौन संबंधों के लिए उसकी सहमति साबित करने के मुद्दे पर प्रासंगिक न हों।

गौरतलब है कि बलात्कार के मामलों में आरोपी के वकील द्वारा पीड़ित के चरित्र पर संदेह जताना इस पेशे के पुराने दांवपेंचों में शुमार होता रहा है। जाहिर है ऐसी किसी चर्चा से पीड़िता को मानसिक प्रताड़ना झेलनी पड़ती है और यह समूची कवायद उसे ही कठघरे में खड़ा करती दिखती है। आज से लगभग 27 साल पहले बलात्कार कानूनों में किए संशोधनों के जरिए इसी मसले को संबोधित करने की कोशिश हुई थी। मथुरा बलात्कार कांड में सुप्रीम कोर्ट ने तीस साल पहले जो ऐतिहासिक फैसला सुनाया था, उसके बाद पीड़िता के निजी इतिहास की बात करना अनुचित एवं गैर-जरूरी माना गया। 1983 में सामने आए संशोधनों के बाद जब नया कानून बनाया गया, तो इसमें इन पहलुओं के प्रति पर्याप्त संवेदनशीलता बरती गई।

इसके अलावा, हमारे पितृसत्तात्मक समाज में जिस तरह बलात्कार के बाद पीड़िता के ही सामाजिक बहिष्कार की स्थिति बनती दिखती है, उसे मद्देनजर रखते हुए, सर्वोच्च न्यायालय ने पीड़िता की पहचान को गोपनीय रखने पर हमेशा जोर दिया था। साफ है कि कानून की किताब में समयानुसार बदलाव और जमीनी हकीकत के बीच बड़ा अंतर बना ही रहा है। कुछ माह पहले की ही बात है जब असम की एक लड़की के साथ हुए बलात्कार के मामले में फैसला सुनाते हुए खुद सुप्रीम कोर्ट ने इसी किस्म की असंवेदनशीलता का परिचय दिया था।

तेरह साल की उम्र में असम के कामरूप शहर के एक होटल में एक किशोरी से बलात्कार का एक मामला सामने आया था। न केवल निचली अदालत ने बल्कि उच्च अदालत ने भी आरोपी मुसाउद्दीन अहमद को दोषी पाया था, लेकिन उच्चतम न्यायालय में जब मामला पहुंचा तो उसने कामरूप की पुलिस द्वारा जांच में की गई खामियों को रेखांकित किया। इस मामले में माननीय न्यायाधीशों ने पीड़िता का वास्तविक नामोल्लेख किया, बल्कि उसके निजी इतिहास को लेकर कई गैरवाजिब टिप्पणियां भी कीं। इस फैसले ने नारी अस्मिता की बेहतरी के लिए प्रयत्नशील लोगों, समूहों के सामने भी नए सवाल खड़े किए थे! सुप्रीम कोर्ट द्वारा की गई विवादास्पद टिप्पणियां कहे-अनकहे इस बात को फिर उजागर करती हैं कि यौन अत्याचार को लेकर पुलिस, न्यायपालिका आदि की मान्यताएं अब भी किस हद तक पितृसत्तात्मक दायरों में कैद हैं।

इधर बीच यह समाचार मिला है कि अब बलात्कार के स्थान पर यौन अत्याचार शब्द का प्रयोग किया जाएगा। बलात्कार को जेंडर तटस्थ बनाने की प्रस्तुत कोशिश के अंतर्गत अब ऐसे व्यवहार जो विकारग्रस्त हिंसा की श्रेणी में नहीं आते थे, उन्हें भी शामिल किया जा सकेगा।

subhash.gatade@gmail.com

यह खबर भंवरी को मत बताना!

बिहार की एक फास्ट ट्रैक कोर्ट ने बलात्कार के अभियुक्तों को 31 दिन के अंदर सुनवाई कर सजा देने का फैसला सुना दिया है। तीन अभियुक्तों को सश्रम उम्रकैद की सजा सुनाई गई है तथा दो अभियुक्त अभी फरार हैं। घटना जापानी युवती के साथ इस साल 22 अप्रैल को घटी थी, जब वह बोधगया घूमने आई थी और टेम्पो से रेलवे स्टेशन जा रही थी। रास्ते में टेम्पो चालक सहित पांच लोगों ने उसके साथ सामूहिक बलात्कार किया और उसका सारा सामान लूट लिया। इस त्वरित कार्रवाई के लिए न्यायालय की प्रशंसा की जानी चाहिए। लेकिन पिछले अनुभवों के आधार पर यहां यह शंका करना लाजमी है कि यदि यह मामला किसी विदेशी पर्यटक का न होता, तो भी क्या सुनवाइयों की गति यही होती? क्या किसी गरीब औरत की पीड़ा इस जापानी महिला से कम होती?

अंजलि सिन्हा लेखिका स्त्री अधिकार संगठन से जुड़ी हैं।

यौन हिंसा की दूसरी घटनाएं जो कानूनी परिभाषा में बलात्कार नहीं होतीं, लेकिन औरत के सम्मान को गहरा धक्का देने वाली होती हैं, वे इनकी तुलना में कई गुना अधिक घटती हैं।

इसमें कोई दो राय नहीं है कि बाहर से आने वाले की सुरक्षा हमारी जिम्मेदारी होनी चाहिए। अक्सर यहां के पर्यटन स्थलों पर बाहर से आने वाले लोग लूटपाट, धोखाधड़ी और हिंसा तथा बलात्कार के शिकार हो जाते हैं। ऐसे में उन्हें गहरा सदमा लगता होगा, इसलिए उनकी सुरक्षा की गारंटी होनी ही चाहिए। मगर हर बार इस बात पर अमल होता हो, यह कोई जरूरी नहीं। जापानी महिला को मिले तेज इंसाफ की खबर को छोड़ दें, तो आंकड़े बताते हैं कि बिहार में महिलाओं के खिलाफ यौन हिंसा लगातार बढ़ रही है।

राज्य पुलिस मुख्यालय के आंकड़ों के मुताबिक 2006 में महिलाओं के खिलाफ उत्पीड़न तथा अत्याचार की 4974 घटनाएं, 2007 में 4969, 2008 में 6186 तथा 2009 में 6993 घटनाएं हुई थीं। देश के पैमाने पर भी आंकड़े चिंतनीय बने हुए हैं। 2006 से 2008 के बीच 61552 महिलाएं देश में बलात्कार की शिकार हुई थीं। वास्तविक आंकड़े बलात्कार के दर्ज मामलों से हमेशा अधिक होते हैं, क्योंकि लोक लाज के कारण कई घटनाएं परिवारों में ही दबा दी जाती हैं। यौन हिंसा की दूसरी घटनाएं जो कानूनी परिभाषा में बलात्कार नहीं होतीं, लेकिन औरत के सम्मान को गहरा धक्का देने वाली होती हैं, वे इनकी तुलना में कई गुना अधिक घटती हैं।

राजस्थान के महिला समाख्या कार्यक्रम में साथिन के तौर पर काम कर रही भटेरी की भंवरी के साथ 1992 में सामूहिक बलात्कार हुआ था। इतने साल के बाद आज भी वह न्याय की लड़ाई लड़ रही है, लेकिन दोषी चाचा और भतीजा को सजा नहीं मिली है। सेशन कोर्ट ने इस मामले में भारतीय संस्कृति का गुणगान करते हुए कहा था कि 'हमारी भारतीय संस्कृति में यह संभव नहीं है।' देश में हजारों भंवरी बाइयां सालों से इंसाफ की आस में अदालतों के चक्कर काट रही हैं। उनके लिए इंसाफ कब फास्ट ट्रैक होगा?

anjali.sinha1@gmail.com

हिरासत में मौतों से विद्रोही होगा समाज

सामयिक

हृदय नारायण दीक्षित

हिरासती मौतों की संख्या बेशक सिर्फ नौ है लेकिन क्या मनुष्य का जीवन महज सरकारी आंकड़ा है? क्या हम सब काल की ही तरह पुलिस के जबड़े में नहीं हैं? क्या हम पुलिस की कृपा पर ही जीवित हैं? क्या पुलिस राष्ट्र-राज्य की बर्बर एजेंसी है

उत्तर प्रदेश पुलिस हिरासती मौतों को लेकर खासा चर्चा में है। पुलिस पराक्रम की खबरें सुर्खियों में हैं। 2010 के शुरुआती 4 महीनों में ही पुलिस पर नौ लोगों को मार डालने के आरोप हैं। एटा पुलिस ने एक आरोपित के 50 वर्षीय बाप को पीट-पीट कर मार डाला। उसका पुत्र क्या करे? क्या मानवाधिकार आयोग को अर्जी भेजे? क्या डीजी-फीजी को दरख्वास्त भेजे? या खुद कोर्ट जाए? खुद मुकदमा लिखाये? पुत्र की मानसिक स्थिति का अंदाजा लगाइए- बूढ़े बाप की नस-नस तोड़ी गयी, शरीर का कचूमर निकाला गया। बाप बिलखा, तड़फा, रोया। बूढ़े बाप की जिजीविषा मृत्यु से लड़ी लेकिन हिंसा के सरकारी लायसेंसी पुलिस बल के पौरुष और पराक्रम के आगे हार गई। पुत्र अपने पिता की खौफनाक मृत्यु के तमाम भयानक दुःस्वप्नों में होगा। यही पुत्र हथियार उठा ले तो..... तो अभिजात वर्ग उसे हिंसक, अपराधी और गुंडा कहेगा। अभिजात वर्ग पुलिस बर्बरता, कुटम्मस, हत्या और उत्पीड़न के दर्द का व्याकरण नहीं जानता। वह सानिया, राखी के विवाह या आईपीएल के मैचों में दिलचस्पी लेता है। राजधानी लखनऊ की कैंट पुलिस ने संजय शर्मा की तब तक पिटाई की, जब तक वह मर नहीं गया। 2 मार्च, 2010 की रात उसके परिवार की रोती महिलाओं के चित्र भी टीवी पर आए थे। इन आंसुओं में व्यथा का सैलाब था। पुलिस की दहशत थी, डरावना खौफ था।

हिरासती मौतों पर सिर्फ मीडिया ने ही फर्ज निभाया, बाकी सबने उपेक्षा की। सीतापुर के संदना में पुलिस ने दलित हरिहर पर 'पराक्रम' दिखाया, पीट-पीट कर मार दिया और अंतिम संस्कार भी जबरन करवा दिया! जालौन की पुलिस ने थाने में एक व्यक्ति को मार दिया, लाश नाले के किनारे फेंक दी गई। इलाहाबाद के घूरपुर थाने में पुलिस ने दो लोग मार दिए। राजधानी के एक अपहरणकांड के अभियुक्तों की मुठभेड़ पर सवाल उठे थे। लखनऊ पुलिस ने एक अभियुक्त को सीमावर्ती थाना-असोहा (उन्नाव) के गांव अजयपुर से एक दिन पहले पकड़ा था। पकड़े गए व्यक्ति से असोहा थाने में उसके नातेदार मिले भी थे लेकिन अगले दिन लखनऊ की मुठभेड़ में वही व्यक्ति मार दिया गया। हिरासती मौतों की संख्या बेशक सिर्फ नौ है लेकिन क्या मनुष्य का जीवन महज एक सरकारी आंकड़ा है? क्या हम सब काल की ही तरह पुलिस के जबड़े में नहीं हैं? क्या हम सब पुलिस की कृपा पर ही जीवित हैं? सारांश यह कि पुलिस भारतीय राष्ट्र-राज्य की बर्बर और हिंसक एजेंसी ही है कि इससे अपनी प्रतिष्ठा और जिंदगी बचाना आसान नहीं है।

क्या उत्तर प्रदेश की बहादुर पुलिस 2010 के 4 माह में सिर्फ 9 को ही मार गिराने की ताकत रखती है? नहीं, यह आंकड़ा बहुत छोटा है और राज्य की बहादुर (?) पुलिस का सम्मान कम करता है। पुलिस कुटम्मस के सभी मामलों में हत्या ही नहीं होती। हजारों लोग मृत्यु के करीब तक पहुंचते हैं। सभी नहीं मरते, सो खबर नहीं बनते। सैकड़ों विकलांग और अपाहिज हो जाते हैं, उनकी शिकायतें बेकार जाती हैं। हजारों निर्दोषों पर फर्जी मुकदमे हो जाते हैं, उनका जीवन बर्बाद हो जाता है। भ्रष्ट राजनीति ने गृहसचिव/डीजी/एसपी आदि संस्थाओं को नखदंतविहीन पालतू तोता बनाया है। अनेक संवेदनशील कार्यकर्ता पुलिस अराजकता के विरुद्ध आंदोलन भी करते हैं, लेकिन नतीजा शून्य रहता है।

उत्तर प्रदेश के पुलिस प्रमुख करमवीर सिंह ने ठीक कहा है, 'सच्ची बात यह है कि पुलिस अभिरक्षा में जो लोग मरते हैं, वह सामाजिक, आर्थिक रूप से कमजोर लोग होते हैं। कभी इनामी अपराधी की पुलिस अभिरक्षा में मृत्यु नहीं होती।' लेकिन उन्होंने यह नहीं बताया कि आमजन क्या करें? किससे कहें? कहां रोयें? उपाय एक ही है कि प्रत्येक राज्य में एक कार्यरत न्यायाधीश की अध्यक्षता में 'पुलिस अत्याचार जांच आयोग' बनाया जाये। इस आयोग के पास साक्षी को बुलाने की न्यायिक-शक्ति हो। वह सरकारी दबाव से मुक्त हो, पुलिस बर्बरता से छुटकारे का दूसरा कोई उपाय नहीं है। पुलिस 'वन वे ट्रैफिक' चाहती है कि वे गाली दें, हम-आप सुनें। वे थप्पड़ मारें, हम थप्पड़ का स्वागत करें। वे चढ़ बैठें, हम उनका आलिंगन करें। लेकिन जो जीवंत हैं, पुरुषार्थी हैं, स्वाभिमानी हैं, वे प्रतिकार करते हैं, उन्हीं में से कुछेक या अनेक विद्रोही हो जाते हैं। भारतीय पुलिस अपने जन्मकाल 1861 से ही उत्पीड़क एजेंसी है, लेकिन बीते 10 साल से उच्च अधिकारी भी निराश कर रहे हैं। लोक-शिकायतों पर जांच नहीं होती। राज्य पुलिस ने मानवाधिकारों को रौंद दिया है। लखनऊ सीमा से सटे सोहरामऊ के थानाध्यक्ष ने एक गरीब मछुआरे को पकड़ा, वह रिश्वत देकर छूट रहा था कि आधा घंटे में उस पर फर्जी मुकदमा बना, उसका कट्टे में चालान हुआ। कप्तान ने खेद प्रकाश किया लेकिन दरोगा अब भी बड़ा दरोगा है।

पुलिस ही भले आदमियों और नौजवानों को विद्रोही बनाने पर आमादा है। हिरासत की मौतें संवेदनशील व्यक्ति की नींद हराम करती हैं। कथित भद्रों, अभिजातों और पुलिस के अफसरों में मारे /पीटे गए लोगों को अपराधी बताने की लत है। पुलिस संविधान को भी डंडे से हांकती है। अनुच्छेद-21 के अनुसार 'किसी व्यक्ति को कानूनी प्रक्रिया के अलावा, अन्य किसी तरीके से जीवन अथवा स्वतंत्रता से वंचित नहीं किया जा सकता।' संविधान में यह भी निर्देश है कि 'किसी व्यक्ति को स्वयं अपने विरुद्ध साक्ष्य देने के लिए बाध्य नहीं किया जाएगा।' लेकिन पुलिस कूटपीटकर अपराध कबूल करवाती है। भारतीय दंड विधान (धारा-330 व 331) में सूचना उगलवाने के लिए दी गई यातनाओं पर 10 वर्ष की सजा का प्रावधान है। यातना से हुई मृत्यु पर धारा-302 का मुकदमा भी है लेकिन संविधान, आईपीसी और सीआरपीसी उनकी रखैले हैं! सूचना उगलवाने या अपना अपराध स्वीकार कराने के लिए पुलिस अपना पराक्रम ही चलाती है। सरकार दोषियों पर कार्रवाई नहीं करती। सरकारी कार्रवाई जनता, विपक्ष या प्रेस के हल्ले गुल्ले पर निर्भर है।

मनुष्य का सर्वोत्तम भाग मानवीयता है और इसका निकृष्टतम आचरण बर्बरता। बर्बरता और अपराध से निपटने के लिए ही 'राज्य' नाम की संस्था का विकास हुआ। सामाजिक विकास और राष्ट्र-राज्य के जन्म के विवरण अथर्ववेद में हैं। राष्ट्र-राज्यों ने हिंसा, बर्बरता और अपराध-कर्म से जनसुरक्षा की खातिर ही पुलिस बनाई थी। पुलिस जनसुरक्षा की एजेंसी है लेकिन 21वीं सदी के भारत की सर्वाधिक क्रूर संस्था पुलिस ही है। भारतीय पुलिस भारतीय संविधान, कानून के साथ-साथ संयुक्त राष्ट्र के संकल्पों की भी उपेक्षा करती है। संयुक्त राष्ट्र सिद्धांतों का 34 वां नियम 'हिरासत में सभी लोगों की सुरक्षा' पर बल देता है। 1989 के संयुक्त राष्ट्र सिद्धांतों के 9 वें व 18 वें नियमों में गैरकानूनी, निरंकुश मृत्यु की रोकथाम और जांच के आग्रह हैं। पुलिस ने लाखों नौजवानों को निर्ममता से पीटा है, हत्याएं भी की हैं। पुलिस ने आमजन का भरोसा खोया है। जेएनयू के एक छात्र संगठन ने दांतेवाड़ा में मारे गए पुलिस जवानों को शिकारी बताया और कहा कि इस बार शिकारी ही खुद शिकार हो गये तो आश्चर्य क्या है? पुलिस जवानों की हत्या बेशक राष्ट्रीय शोक है, लेकिन निर्दोष गरीबों की पुलिसिया हत्याएं भी वैसी ही राष्ट्रीय चिंता क्यों नहीं बनती?

हिरासत में मौतों का सिलसिला

रंजीत वर्मा

लेखक विधि विषयों के जानकार हैं।

हिरासत में मृत्यु के एक मामले में फैसला सुनाते हुए सर्वोच्च न्यायालय की एक खंडपीठ ने कहा कि इसमें कोई शक नहीं कि यह एक घृणित अपराध है, क्योंकि यह ऐसे लोगों द्वारा किया जाता है, जिनके बारे में यह समझा जाता है कि उनका काम लोगों की रक्षा करना है। दुखद पहलू यह है कि यंत्रणा और मौत की घटना को अधिकार और वर्दी की आड़ में अंजाम दिया जाता है और वह भी पुलिस स्टेशन और हिरासत की चारदीवारी के अंदर, जहां पीड़ित एकदम असहाय होता है।

सर्वोच्च न्यायालय ने साफ कहा कि ऐसे मामलों में बेहद कड़ा रुख अख्तियार करने की जरूरत है। मामला दो लोगों की हिरासत में मृत्यु से जुड़ा था, जिसमें अदालत ने सात पुलिसकर्मियों को उम्र कैद की सजा सुनाई थी, जबकि कर्नाटक उच्च न्यायालय ने सजा में बदलाव करते हुए इसे एक साल के सश्रम कारावास में बदल दिया। साथ ही पांच हजार रुपए का जुर्माना भी लगाया। उच्च न्यायालय के इसी फैसले के खिलाफ सजायाफ्ता पुलिसकर्मियों ने सर्वोच्च न्यायालय में अपील की थी। अपील को खारिज करते हुए सर्वोच्च न्यायालय ने सख्त लहजे में कहा कि इसके बावजूद कि तमाम संवैधानिक और कानूनी प्रावधान नागरिक की निजी स्वतंत्रता और जीवन की रक्षा के लिए बनाए गए हैं और इसके भी बावजूद कि यह न्यायालय और सभी उच्च न्यायालय हमेशा ऐसी घटनाओं की कठोर शब्दों में भर्त्सना करता रहा है, देखा यह जा रहा है कि देश भर में ऐसी घटनाओं की संख्या लगातार बढ़ती जा रही है, जैसी कि पहले कभी नहीं देखी गई थी।

यह चिंता वाजिब है और न्यायालय की यह कोई आज की चिंता नहीं है। 1996 में डी के बसु के फैसले में जो दिशानिर्देश दिए गए थे, वे इसीलिए दिए गए थे ताकि पुलिस

हिरासत में दी जाने वाली यंत्रणा का पता लगने पर भी उतनी सजा का प्रावधान नहीं रखा गया है, जितनी सजा भारतीय दंड संहिता में मुकर्रर है।

यंत्रणा पर लगाम लगाई जा सके। उक्त फैसले में पुलिस को हिदायत दी गई थी कि वह किसी को हिरासत में लेते वक्त और उसके बाद उसे कौन-कौन सी औपचारिकताएं निश्चित रूप से पूरी करनी होंगी। लेकिन इस फैसले के बाद भी देखा यह जा रहा है कि हिरासत में यंत्रणा और मौत का खेल पहले से भी ज्यादा निर्मम तरीके से चल रहा है। मतलब साफ है कि किसी भी हिदायत को देश का एक भी पुलिस स्टेशन मानने को तैयार नहीं है। यह बात और है कि वे तमाम हिदायतें देश के सभी थानों की दीवारों पर चिपकी या टंगी हुई जरूर दिख जाएंगी, क्योंकि यह हिदायत भी सर्वोच्च न्यायालय ने ही दी थी। यानी कहा जा सकता है कि कम से कम एक हिदायत उन्होंने जरूर मानी है।

बहरहाल आंकड़े बताते हैं कि 2001 से 2009 के बीच देश भर में हिरासत में कुल 1184 मौतें हुईं और लगभग सारी मौतें गिरफ्तार किए जाने के 48 घंटे के भीतर हुईं। एक भी राज्य इससे अछूता नहीं रहा। सबसे ऊपर महाराष्ट्र रहा, जहां कुल 192 मामले दर्ज किए गए और सबसे नीचे गोवा, सिक्किम, दादर और नागर हवेली तथा मणिपुर रहा, जहां सिर्फ एक-एक मौत हुई। हालांकि ये आंकड़े वास्तविक संख्या नहीं दर्शाते। एक तो सारी घटनाएं उजागर नहीं हो पाती हैं। दूसरे, मानवाधिकार सुरक्षा कानून, 1993 की धारा 19 राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग को इस बात की इजाजत नहीं देती कि वह भारतीय सेना की हिरासत में होने वाली मौतों की जानकारी उससे मांग सके। मणिपुर, जहां 2001 से 2009 के बीच हिरासत में सिर्फ एक मौत की बात स्वीकारी गई है, वहीं जब एशियन सेंटर ऑफ ह्यूमन राइट्स (एसीएचआर) ने अपने स्तर पर जांच पड़ताल की, तो वहां उसे पचास मौतों का पता चला। एसीएचआर ने इसकी शिकायत भी दर्ज कराई है।

कहा जा सकता है कि जहां एक ओर हिरासत में मौत का खेल बेधड़क चल रहा है और अदालतें इसको लेकर लगातार चिंता भी प्रकट कर रही हैं, वहीं यह देखकर आश्चर्य होता है कि भारत सरकार प्रिवेंशन ऑफ टॉर्चर बिल ला रही है। यह कानून पुलिस का मनोबल बढ़ाने वाला है। इस कानून में हिरासत में दी जाने वाली यंत्रणा का पता लगने पर भी उतनी सजा का प्रावधान नहीं रखा गया है, जितनी सजा भारतीय दंड संहिता में मुकर्रर है। और एक अन्य प्रावधान के तहत यह व्यवस्था रखी गई है कि इस कानून के तहत अगर किसी पुलिसकर्मी पर यंत्रणा का आरोप लगता भी है, तो छह महीने तक उस पर कोई कार्रवाई नहीं की जाएगी। यह प्रावधान आपराधिक प्रक्रिया संहिता के सर्वथा विपरीत है। भारत सरकार यदि ऐसा कानून ला रही है तो इसका सीधा मतलब है कि हिरासत में होने वाली मौतें उसके लिए चिंता की बात नहीं, बल्कि प्रशासन का एक मामूली हिस्सा भर है। ऐसे में यह साफ है कि न्यायालय की चिंता कोई रंग नहीं ला पाएगी और आम लोगों की मौतें हिरासत में ऐसे ही होती रहेंगी।

verma.ranjeet@gmail.com

हिरासत में यातना और मौतों से कैसे निपटें

हाल में पंजाब से एक खबर आई कि पुलिस एक प्रेमी युगल को पार्क से पकड़ कर थाने ले आई। अगले दिन सुबह पूछताछ के बाद लड़की को नारी निकेतन भेज दिया गया और लड़के की मौत हो गई। उसके पहले उत्तर प्रदेश के औरैया में थाने में एक खुदकुशी की खबर से लोगों का गुस्सा इतना भड़का कि पूरे शहर में आगजनी और विरोध प्रदर्शन हुए। लोगों के बढ़ते गुस्से की वजह से हरकत में आई राज्य सरकार ने पूरे थाने के सारे पुलिसकर्मियों को सस्पेंड कर दिया और थानेदार के खिलाफ हत्या का मामला दर्ज कर लिया गया।

इसी तरह की एक खबर दिल्ली से भी पिछले दिनों आई थी। ऐसी कई खबरें देश भर के अन्य हिस्सों से बहुधा आती रहती हैं, लेकिन आम तौर पर पुलिसवालों को ऐसे मामलों में सजा नहीं होती। कुछ दिनों पूर्व एशियन सेंटर फॉर ह्यूमन राइट्स की एक रिपोर्ट 'टॉर्चर इन इंडिया 2010' प्रकाशित हुई। इस रिपोर्ट में यह बात सामने आई कि भारत में पुलिस हिरासत में होने वाली मौतों की संख्या में लगातार इजाफा हो रहा है। रिपोर्ट के मुताबिक 2004 से 2008 तक हिरासत में मौत का प्रतिशत लगभग पचपन फीसदी बढ़ गया। एक ओर जब हम आधुनिक होने की राह पर चल रहे हैं, वैसे में हमारे देश की पुलिस के इस तरह के कारनामे लोकतंत्र पर बदनुमा दाग की तरह हैं।

अनंत विजय

लेखक पत्रकार हैं।

आज जरूरत इस बात की है कि कानून व्यवस्था को लागू करने की जिम्मेदारी जिनके कंधों पर है, उनको विशेष रूप से ट्रेनिंग दी जाए और समय-समय पर उनकी काउंसलिंग भी की जाए।

सरकार को भी पुलिसिया जुल्म का अहसास है, इसलिए सरकार ने संसद के पिछले सत्र में प्रिवेंशन ऑफ टॉर्चर बिल पेश किया था, जो अब राज्यसभा की मंजूरी का इंतजार कर रहा है। हालांकि, इस बिल की कई धाराओं को लेकर कानून के जानकारों के बीच मतभेद है। कुछ लोगों का मानना है कि यह कानून सिर्फ अंतरराष्ट्रीय दबाव में बनाया जा रहा है, क्योंकि भारत ने युनाइटेड नेशंस कनवेंशन अगेंस्ट टॉर्चर पर हस्ताक्षर किए हैं। सवाल यह है कि कानून बनाकर क्या इस तरह के पुलिसिया जुल्म को रोका जा सकता है। गांधी जी ने बहुत पहले इस बात को महसूस किया था और लिखा था कि भारत में हमें एक ऐसे पुलिस बल की आवश्यकता है, जो खुद पुलिस बल पर नजर रख सके। आज से लगभग सत्तर साल पहले की गई यह टिप्पणी आज भी प्रासंगिक है।

पुलिसिया जुल्म की यह समस्या सामाजिक ज्यादा है। सवाल यह है कि पुलिस की मानसिकता को कैसे बदला जाए। दूसरे, देश में बढ़ते अपराध से निबटने के लिए हमारे पास पर्याप्त संख्या में पुलिस बल नहीं है। आज जरूरत इस बात की है कि कानून व्यवस्था को लागू करने की जिम्मेदारी जिनके कंधों पर है, उनको विशेष रूप से ट्रेनिंग दी जाए और समय-समय पर उनकी काउंसलिंग भी की जाए ताकि पंजाब और औरैया जैसी घटनाएं न हों।

उप्र में हुई हिरासत में सर्वाधिक मौतें

नितेन्द्र लाल दास/एसएनबी

लखनऊ। देश में सर्वाधिक हिरासती मौतें उत्तर प्रदेश में हो रही हैं। गत तीन वर्षों के दौरान देश भर में क्रमशः 2267, 1943 व 1794 मौतें हिरासत में हुई। इसमें उत्तर प्रदेश में हिरासत में मरे लोगों की संख्या क्रमशः 356, 330 व 364 रही। तीन साल में देश भर में हिरासत के दौरान मरे कुल 6004 लोगों में अकेले उत्तर प्रदेश में 1050 लोग वर्दी वालों की दरिंदगी का शिकार हो स्वर्ग सिधार गये। पुलिस प्रताड़ना से हिरासत के दौरान मौतों की संख्या में वृद्धि के मद्देनजर मानवाधिकार आयोग के दबाव पर पिछले दिनों मुख्यमंत्री मायावती को स्वयं पुलिसकर्मियों के लिए हिरासती मौत की दशा में जेल भेजने की चेतावनी जारी करनी पड़ी।

▶ तीन साल में 1050 लोगों ने हिरासत में तोड़ा दम

उत्तर प्रदेश में तो हर एक-दो दिन पर कहीं न कहीं किसी न किसी की हिरासत में मौत होती है। इस पर कुछ दिन तो हाय-तौबा मचती है पर धीरे-धीरे सब कुछ शांत हो जाता है। आरोपित पुलिसकर्मियों की गिरफ्तारी भी होती है पर लंबे अर्से बाद कम ही मामलों में पुलिसकर्मियों को सजा मिल पाती है। प्रदेश में हिरासती मौतों के चिन्ताजनक आंकड़ों पर आला पुलिस अधिकारी आबादी अधिक होने का तर्क भी जोरदार ढंग से रखते हैं। राज उगलवाने व गुनाह कबूल कराने के लिए मारपीट, शारीरिक व मानसिक यातनाएं पुलिस थानों में आम बात है। पुलिस गिरफ्तारी की तारीख अपनी सुविधानुसार तय करती है व तब तक पूछताछ के साथ प्रताड़ना का दौर चलता रहता है।

न्यायिक जांच अनिवार्य

हिरासती मौत के मामलों में 24 घंटे के दौरान पोस्टमार्टम कराने व राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग को सूचना दिये जाने के निर्देश हैं। सीआरपीसी की धारा-176 में हिरासत के दौरान मौत, लापता या बलात्कार के मामले की न्यायिक जांच भी अनिवार्य है। पुलिस हिरासत व अभिरक्षा में हुई मौतों की मजिस्ट्रेटी जांच भी की जाती है।

प्रिवेंशन आफ टार्चर बिल से उम्मीद

केन्द्रीय गृह मंत्रालय की पहल पर पिछले दिनों 'प्रिवेंशन आफ टार्चर बिल-2010' को लोकसभा ने पारित किया है जिसे शीघ्र ही कानून का रूप दे दिया जाएगा। बिल में यातना का दोषी पाये जाने पर 10 साल की कैद का प्रावधान किया गया है। इससे यातना के कारण हिरासती मौतों में कमी आने की बात कही जा रही है।

आंकड़ों पर एक नजर

वर्ष	हिरासत में मौतें	
	देश में	उप्र में
2007-08	2267	356
2008-09	1943	330
2009-10	1794	364

तीन साल में कहां कितनी मौतें

उत्तर प्रदेश	1050
महाराष्ट	877
बिहार	515
उत्तराखंड	415
आन्ध्र प्रदेश	408

भोपाल गैस त्रासदी: मामले पर एक नज़र

हादसे की रात:
दिसंबर 2-3, 1984

भोपाल में मध्य रात्रि के समय यूनियन कार्बाइड इंडिया लिमिटेड (यूसीआईएल) के संयंत्र से मिथाइल आइसोसायनेट गैस का रिसाव हुआ

सरकारी आंकड़ों के अनुसार मृतकों की संख्या लगभग 3,800 तथा हजारों की संख्या में लोग विकलांग. अन्य अनुमानों के मुताबिक मृतकों और प्रभावित लोगों की संख्या कहीं अधिक

- 1984 में भोपाल नगर निगम के कुल वार्ड: 56
- गैस प्रभावित वार्ड: 36
- 1984 में भोपाल नगर निगम क्षेत्र की जनसंख्या: 8,94,539
- 36 गैस प्रभावित वार्डों की जनसंख्या: 5,59,835

देरी से मिली कम सहायता

- अमेरिका में यूसीआईएल की प्रमुख कंपनी यूनियन कार्बाइड कार्पोरेशन (यूसीसी) से मुआवजे की मांग: 3.3 बिलियन डालर
- यूसीसी द्वारा फरवरी 1999 में जमा की गयी राशि: 470 मिलियन डालर (कुल मांग का 14.24 प्रतिशत)
- सुप्रीम कोर्ट ने मुआवजे की 1,500 करोड़ रुपए से अधिक की राशि पीड़ितों को देने के आदेश दिए: जुलाई 2004
- कुल मुआवजे के मामले: 10,29,517
- मामले स्वीकृत: 5,74,366
- मामले रद्द किए गए: 4,55,151
- कुल मुआवजे का आबंटन: 1,548.93 करोड़ रुपए

मुकदमे का घटनाक्रम

आरोपी:

- वॉरेन एंडरसन, यूसीसी अध्यक्ष (मामले में भगोड़ा)
- यूसीआईएल के भारतीय अधिकारी/स्टॉफ
  - अध्यक्ष केशव महेन्द्रा ■ मैनेजिंग डायरेक्टर विजय गोखले
  - वाइस प्रसीडेंट किशोर कामदार ■ वर्क्स मेनेजर जे मुकुंद
  - प्रॉडक्शन मेनेजर एस पी चौधरी ■ प्लांट सुपरीनटेंडेंट के वी शेट्टी
  - प्रॉडक्शन सहायक एस आई कुरेशी
  - सहायक वर्क्स मेनेजर आर बी रॉय चौधरी (सुनवाई के दौरान मृत्यु हो गई)
- 6 दिसं, 1984: मामला सीबीआई के सुपुर्द किया गया
- 1 दिसं, 1987: आरोपपत्र दाखिल, आईपीसी धारा 304-II (गैर-इरादतन हत्या) के तहत आरोप तय, जिसके अंतर्गत दस साल तक के कारावास की सजा हो सकती है
- 13 सितं, 1996: सुप्रीम कोर्ट ने मामले में आईपीसी धारा 304ए के तहत आरोप तय करने के आदेश दिए (लापरवाही के कारण मौत जिसमें अधिकतम दो वर्ष के कारावास की सजा का प्रावधान)
- इस मामले में अभियोजन पक्ष की ओर से 178 गवाह पेश हुए, वहीं अदालत में 3008 दस्तावेज पेश किए गए
- 7 जून, 2010: भोपाल की एक अदालत ने आठ भारतीय आरोपियों को दोषी ठहराया, इसमें एक की मौत हो चुकी है. बचे हुए सात दोषियों में प्रत्येक को दो वर्ष की सजा सुनाई गई, बाद में उन्हें जमानत मिली
- अदालत ने प्रमुख आरोपी वॉरेन एंडरसन का कोई जिक्र नहीं किया

KBK Infographics

दफन हुआ इंसाफ

हर तरफ तीखी प्रतिक्रिया

■ यह इस तरह का मामला है जिसमें न्याय में विलंब हुआ है और व्यावहारिक तौर पर न्याय नहीं दिया गया। मैं कहना चाहूंगा कि न्याय को दफना दिया गया है। उचित जांच कराकर अपराधियों को न्याय के कठघरे में लाकर यथाशीघ्र अधिकतम सजा सुनिश्चित की जानी चाहिए।
वीरप्पा मोइली, केंद्रीय कानून मंत्री

■ यह ऐतिहासिक दोषसिद्धि है, लेकिन यह बहुत देर में मिली बहुत थोड़ी सी सजा है। जहां एक ओर भारतीय कर्मचारियों पर मुकदमा चलाकर उन्हें दोषी करार दिया जा रहा है वहीं मामले के विदेशी अभियुक्त विदेश में रहकर इंसाफ से बच रहे है। यह पूरी तरह अस्वीकार्य है।
एमनेस्टी इंटरनेशनल

■ मुकदमा काफी लम्बा चला। इससे पीड़तों को न्याय देरी से मिला। न्याय में देरी के कई कारण हैं। अगर दोषियों को पर्याप्त सजा नहीं मिली है तो सरकार को अपील दायर करने का अधिकार है।
न्यायमूर्ति केजी बालाकृष्णन, एनएचआरसी अध्यक्ष

■ कंपनी के विदेशी मालिकों को सजा नहीं मिलने की घटना से सरकार को परमाणु दायित्व विधेयक पर पुनर्विचार करना चाहिए, जो दुर्घटना होने की स्थिति में निजी आपूर्तिकर्ताओं को जवाबदेही से मुक्त रखता है। 25 साल की सुनवाई के बाद अभियुक्तों को सिर्फ दो साल की जेल मिली। सीबीआई को इस निर्णय के खिलाफ तुरंत ऊपरी अदालत में अपील करनी चाहिए।
भारतीय जनता पार्टी

■ ऐसे मामलों को जल्द निपटाने की व्यवस्था होनी चाहिए। इस मामले को निपटाने में हुई देरी की आलोचना बहुत हद तक सही है। न्याय बहुत पहले हो जाना चाहिए था। यह व्यवस्था संवेदनशील और शीघ्र निर्णय लेने वाली होनी चाहिए।
कांग्रेस

दफन हुआ...

■ प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह को सीबीआई की विफलता और अक्षमता की जिम्मेदारी लेनी चाहिए। सीबीआई मुख्य अभियुक्त को न्याय के कठघरे में नहीं ला सकी। यह कारपोरेट अपराध है और आरोपी को कठोर सजा मिलनी चाहिए थी। इसे सड़क दुर्घटना के मामले की तरह लिया गया।
- भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी

न्यायप्रणाली का शर्मनाक काला अध्याय

■ यह भारतीय न्याय प्रणाली का एक हास्यास्पद, दुखद, और शर्मनाक काला अध्याय है। इसे न्याय कहना इस शब्द के साथ बेइंसाफी होगी। सारे सबूतों और प्रमाणों के बावजूद 25 हजार मौतों के दोषियों को महज आपराधिक लापरवाही जैसी मामूली धाराओं में सजा सुनाया जाना एक प्रकार से अन्याय है, जिसे दुर्भाग्य से एक अदालत ने घोषित किया है।
- माकपा

वर्तमान कानूनी प्रावधान अपर्याप्त

■ भोपाल गैस त्रासदी जैसी भीषणम औद्योगिक दुर्घटनाओं के दोषियों को सजा दिलाने में वर्तमान कानूनी प्रावधान अपर्याप्त हैं। भारत सरकार से इस तरह की त्रासदियों के संबंध में वर्तमान में विद्यमान कानूनों में संशोधन अथवा नए कानून बनाने का आग्रह किया जाएगा।
- शिवराज सिंह चौहान (मुख्यमंत्री-मप्र)

अपंग कानून का चिढ़ाता हुआ फैसला

भोपाल गैस त्रासदी के पीड़ित तो अपना मुकदमा तभी हार गए थे, जब इसकी धारा बदल दी गई थी

ज्वलंत मुद्दा

रंजीत वर्मा

भोपाल गैस कांड मामले में फैसला आने के बाद अधिवक्ताओं से लेकर बुद्धिजीवियों तक में उबाल-सा दिखाई दे रहा है। पच्चीस साल के लंबे इंतजार के बाद सिर्फ दो साल की सजा! लेकिन यह सजा तो तभी तय हो गई थी, जब वर्ष 1996 में सर्वोच्च न्यायालय ने आपराधिक मानव-वध (कल्पेबल होमिसाइड) के आरोप को लापरवाही से हुई मृत्यु (भारतीय दंड संहिता की धारा 304-ए) में बदल दिया था। कोहराम तभी मचाना चाहिए था कि इसमें दो साल से ज्यादा की सजा नहीं होगी। या फिर वर्ष 2009 में ही यह समझ लेना चाहिए था, जब शीर्ष अदालत के आदेश से बंधे भोपाल के कोर्ट ने अब्दुल जब्बार की इस दलील पर ध्यान नहीं दिया कि यूनियन कार्बाइड के मैनेजर वारेन वूमर ने वर्ष 1982 में ही रेफ्रिजेशन सिस्टम को बंद करने का आदेश दिया था, जो अंततः तीन दिसंबर, 1984 को मिथाइल आइसोसायनेट के रिसाव का कारण बना। इस गैस से करीब 15,000 लोगों की जानें गईं और लाखों लोग इस बुरी तरह प्रभावित हुए कि उनके बच्चे तक विकलांग पैदा होते रहे। विकलांगों की वह पीढ़ी आज बड़ी हो गई है और यह देखकर दंग है कि इस देश की कानून व्यवस्था तो उससे भी ज्यादा अपंग है।

केंद्रीय कानून एवं विधि मंत्री वीरप्पा मोइली ने इस फैसले पर टिप्पणी करते हुए कहा कि न्याय को दफना दिया गया है। उन्होंने यह भी कहा कि इस फैसले से सबक सीखने की जरूरत है। इसे भारतीय दंड संहिता की धारा 304(ए) के दायरे में नहीं लाना चाहिए था। हमें ऐसे कानून की जरूरत है, जिससे ऐसी मानव निर्मित त्रासदियां फिर न दोहराई जा सकें। वीरप्पा मोइली के इस वक्तव्य को बहुत ज्यादा अहमियत नहीं दी जा सकती। कानून मंत्री भी यह जानते होंगे कि सिर्फ धाराओं के सहारे अच्छे फैसले नहीं लिखे जा सकते। अच्छे फैसले लिखने के लिए दृढ़ इच्छाशक्ति की जरूरत पड़ती है। आप आज कह रहे हैं कि इस फैसले का प्रभाव भारत-अमेरिकी संबंध पर पड़ सकता है, लेकिन यह बात तो आपको तभी कहनी चाहिए थी, जब अमेरिका ने जून, 2004 में वारेन एंडरसन के प्रत्यर्पण से इनकार कर दिया था।

गौर करने वाली बात यह भी है कि अदालत ने अपने फैसले में एंडरसन को भगोड़ा कहा और फिर पूरे फैसले में उस पर कोई जिक्र तक नहीं किया। क्यों? क्या 15,000 लोगों के हत्यारे पर बस इतनी ही टिप्पणी की जानी चाहिए थी? देश में ऐसे फैसलों की कमी नहीं है, जिनमें किसी बस या ट्रेन के लूटे जाने और उस मामले में किसी भी अपराधी के पकड़े न जाने पर संबंधित गांव के सभी बाशिंदों पर यह कहकर सामूहिक जुर्माना लगाया गया कि अपराधी चूंकि इसी गांव से थे और अगर वे नहीं पकड़े जा रहे हैं, तो इसमें गांव वालों की भी भूमिका बनती है, अतः वे भी दंड के अधिकारी हैं। क्या वारेन एंडरसन के मामले में ऐसी टिप्पणी नहीं की जा सकती थी? यह ठीक है कि कानून की अपनी भूमिका है, जिसके न होने की वजह से ही कंपनी पर आपराधिक जवाबदेही तय नहीं की जा सकी, लेकिन सोचने वाली बात यह है कि कानून अगर नहीं है, तो क्यों नहीं है? वर्ष 1984 में घटी इस घटना के बाद से ही इस मुकदमे में ऐसे कई मोड़ आए, जब अदालत से लेकर सरकार तक ने खुद को बंधा हुआ पाया, तब भी क्यों नहीं कोई सख्त कानून बनाया गया? जरूरी है कि पूरी पृष्ठभूमि पर एक सरसरी निगाह डाली जाए।

जिन दिनों भोपाल गैस त्रासदी हुई, उन दिनों वैश्विक पूंजीवाद संकट के दौर से गुजर रहा था और उससे उबरने के लिए नए ढंग से सोचने का काम शुरू हो चुका था। और इसी क्रम में बाजार के नए क्षेत्रों और संसाधनों की तलाश की जा रही थी। भारत इस वैश्विक पूंजीवाद के निशाने पर आ चुका था। पर भारत इसे इस तरह देख रहा था, मानो उसे उपेक्षित कर दुनिया अब आगे नहीं बढ़ सकती। दुनिया भर की प्रमुख सरकारें एवं उनके बुद्धिजीवी भारत को भावी महाशक्ति के रूप में देखने का नाटक कर रहे थे। तब भारतीय नेता हमारे नुमाइंदे कम और उनके ज्यादा नजर आ रहे थे। वे यह समझ ही नहीं रहे थे कि उनके पहले पूंजीवाद की नजर सत्तर के दशक में अफ्रीका और लैटिन अमेरिका पर पड़ी थी और उनके दोहन में उसने कोई कसर नहीं छोड़ी थी।

पंद्रह हजार से अधिक लोगों की जान लेने वाली और लाखों को अपंग बनाने वाली आपराधिक भूल कतई क्षम्य नहीं हो सकती

भारत उन दिनों इसलिए बच पाया, क्योंकि तब भारत में समाजवाद का दौर था, संविधान की प्रस्तावना में संशोधन करके 'समाजवाद' जैसे शब्द डाले जा रहे थे, खदानों, बैंकों और बीमा कंपनियों का राष्ट्रीयकरण किया जा रहा था। दुनिया दो खेमों में बंटी थी- अमेरिका और सोवियत संघ। भारत गुटनिरपेक्ष होते हुए भी सोवियत संघ के करीब था। लेकिन 1984 आते-आते 21वीं शताब्दी का सपना देखा जाने लगा और सोवियत संघ के विघटन के तीन-चार साल बीतते-बीतते वर्ष 1991 में भारत सरकार ने बाकायदा वैश्वीकरण के लिए दरवाजे खोलने की घोषणा कर दी। कहा जा सकता है कि आज जो फैसला लिखा गया है, उसकी पटकथा तो 1991 में ही लिखी जा चुकी थी। आश्चर्य की बात यह है कि जो इस पूरी परिस्थिति के सूत्रधार थे, वही आज आगे बढ़कर आंसू बहा रहे हैं।

इस फैसले पर जिस तरह की प्रतिक्रियाएं आ रही हैं, उन्हें देखते हुए कहा जा सकता है कि देश दो हिस्से में बुरी तरह बंट चुका है। एक वे, जिनके साथ न्याय शायद ही कभी किया जाता है और दूसरे वे, जो हमेशा अपने पक्ष में न्याय पाने में सफल हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में जाहिर है कि पहली श्रेणी वाले असंतोष जाहिर करेंगे, लेकिन आश्चर्य तो तब होता है, जब जीतने वाला पक्ष भी कोहराम मचाता दिखे कि उसके साथ न्याय नहीं हुआ। युनाइटेड फॉसफोरस के प्रबंध निदेशक रज्जू डी श्रॉफ ने कहा कि कंपनियों के अधिकारियों के खिलाफ यह फैसला है, इसलिए यह एक गलत फैसला है। आगे उन्होंने कहा कि बाहर से जो कंपनियां भारत आ रही हैं, उन पर इस फैसले का बुरा असर पड़ेगा। एक तरफ जब लोग कह रहे हैं कि आरोप को धारा 304(ए) के तहत क्यों लाया गया, वहीं श्रॉफ कह रहे हैं कि इस धारा के तहत भी उन्हें दंडित क्यों किया गया। क्योंकि उनकी नजर में इस तरह की सारी दुर्घटनाएं गैरइरादतन होती हैं। तो क्या मुनाफे भी गैरइरादतन होते हैं? जाहिर है, नहीं। तो फिर दुर्घटनाएं कैसे गैरइरादतन हो सकती हैं? इस मामले में तो भारतीय दंड संहिता की धारा 302 के तहत मुकदमा चलाया जाना चाहिए था और अधिकतम सजा दी जानी चाहिए थी। लेकिन इस अर्थ में पीड़ितगण काफी पहले मुकदमा हार चुके थे।

(लेखक स्वतंत्र टिप्पणीकार हैं)

शहरी गरीबों की बदतर होती सेहत

सामयिक

डॉ. संजीव कुमार

विश्व स्वास्थ्य संगठन ने इस वर्ष विश्व स्वास्थ्य दिवस को 'हजारों शहर-हजारों जिंदगियां' नामक विषय पर मनाया, परन्तु वास्तव में भारत के शहरों को विश्व स्तर का चमक-दमक वाला बनाने में हजारों नहीं, लाखों जिन्दगियां लगी हैं। ये वे लोग हैं जिनका योगदान कभी सामने नहीं आ पाता। हम जब अपने शानदार बेडरूम में सो रहे होते हैं, तब ये असली शहर निर्माता सड़कों, नालियों को साफ कर रहे होते हैं और अगले दिन हमारे लिए सब्जियां, दूध, ब्रैड आदि जुटा रहे होते हैं, परन्तु दुर्भाग्य कि इनमें से ज्यादातर वस्तुओं को वे स्वयं अपने परिवारों के लिए नहीं जुटा पाते। इसी कर्मठ लेकिन वंचित समूह को 'शहरी गरीब' कहा जाता है। इनका जीवन बेहतर जिन्दगी की उम्मीद में ही कट जाता है, जबकि असली फायदा उठाते हैं- ठेकेदार।

शहरी गरीब अमीरों के लिए चमकती सड़क, फ्लाईओवर, मॉल तथा आलीशान इमारत बनाते हैं, लेकिन स्वयं झुग्गी-बस्तियों में नारकीय हालात में रहने को मजबूर हैं। यहां न सफाई-सुविधाएं है, न पीने लायक पानी है और न इलाज की सुविधा। सरकारी सर्वेक्षण एनएफएचएस-3 के आंकड़े दर्शाते हैं कि आधी से ज्यादा शहरी आबादी को शौच की सुविधाएं नदारद हैं, प्रति पांच में से चार को साफ पीने का पानी नहीं मिलता और रहने को पर्याप्त जगह नसीब नहीं है। औसतन चार व्यक्ति एक छोटे से कमरे में सोने को मजबूर हैं।

इन विषम रहन-सहन के हालात का असर पड़ता है शहरी गरीबों की सेहत पर। एनएफएचएस-3 के अनुसार शहरी गरीबों में बाल मृत्यु दर 73 प्रति हजार है जबकि समृद्ध वर्ग में यह करीब-करीब इसकी आधी (41.8 प्रतिशत) है। आधे से अधिक बच्चे कुपोषण के मारे हैं। स्वास्थ्य सेवाओं की पहुंच भी इस वर्ग तक निहायत कम है। लगभग 60 प्रतिशत बच्चों को जरूरी टीके नहीं लग पाते और गर्भवती महिलाओं में से मात्र 11 प्रतिशत को ही सभी प्रसव-पूर्व सेवाएं मिल पाती हैं। बस्तियों के नजदीक बड़े-बड़े अस्पताल होने के बावजूद आधे से ज्यादा बच्चों

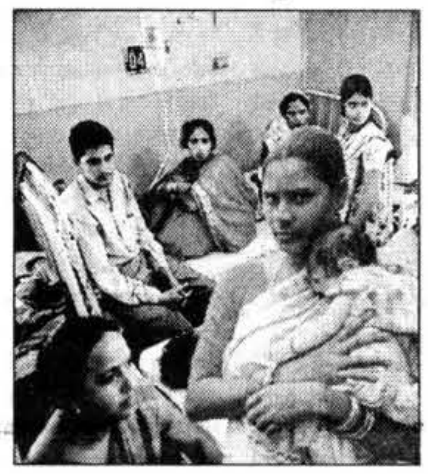

का जन्म घर पर असुरक्षित माहौल में होता है।

विडम्बना यह है कि शहरी गरीबों की इस विशाल आबादी (करीब 10 करोड़) के स्वास्थ्य को सुधारने हेतु गंभीर प्रयास नहीं होते। इन शहरी गरीबों की वृद्धि दर बहुत ज्यादा है, जो औसत जनसंख्या वृद्धि दर की तुलना में दूने से भी अधिक है और अगले दस वर्षों में इनकी आबादी के बढ़कर दूने होने की आशंका है। यदि इनके स्वास्थ्य एवं रहन-सहन में सुधार संबंधी गंभीर प्रयास नहीं किए गये, तो हालात और भी बदतर हो जाएंगे। झुग्गी-बस्तियों की बदतर होते हालात तथा बढ़ रही बीमारियां, विशेषकर संक्रामक बीमारियां, न सिर्फ गरीबों को तबाह करेंगी, बल्कि समृद्ध वर्ग भी इनकी चपेट में आएगा।

सरकार ने शहरी स्वास्थ्य एवं रहन-सहन संबंधी हालात में सुधार हेतु राष्ट्रीय शहरी पुनर्निर्माण मिशन, राष्ट्रीय ग्रामीण स्वास्थ्य मिशन एवं आईसीडीएस आदि योजनाओं के अन्तर्गत प्रावधान किए हैं, परन्तु इन कार्यक्रमों की पहुंच सभी शहरी गरीबों तक न होकर कुछ बस्तियों तक ही है। अनलिस्टेड बस्तियां कुल बस्तियों की करीब आधी है, इनमें सेवाओं का प्रावधान न होना इन कार्यक्रमों की सबसे बड़ी खामी है। इसके अतिरिक्त योजना निर्माण तथा क्रियान्वयन एवं समुदाय आधारित जटिलताओं के चलते इन कार्यक्रमों की पहुंच समान रूप से सभी शहरी आबादी तक नहीं हो पाती। सरकार ने इन हालातों को समझते हुए शहरी गरीबों को समर्पित एक व्यापक 'राष्ट्रीय शहरी स्वास्थ्य मिशन' को शुरू करने की योजना बनायी है।

शहरी गरीबों के रहन-सहन में असरदार सुधार के लिए शहरी स्वास्थ्य मिशन को शीघ्र शुरू करके तय समय में लागू किया जाना चाहिए। इसकी सफलता के लिए जरूरी है कि हम मौजूदा स्वास्थ्य कार्यक्रमों से सीख लें, तभी स्वास्थ्य सेवाओं को शहरी वंचित बस्तियों तक पहुचाने का लक्ष्य प्राप्त हो पाएगा। साधारणतया शहरों में स्वास्थ्य सुधार हेतु बहुत-सी एजेंसियां जैसे- स्वास्थ्य विभाग, आईसीडीएस, नगर निगम, स्वयंसेवी संस्थाएं कॉरपोरेट सेक्टर एवं अंतरराष्ट्रीय विकास एजेंसियां बिना आपसी तालमेल के कार्य करती हैं। शहरी स्वास्थ्य मिशन इन सभी एजेंसियों के साथ ऊपर से लेकर जमीनी स्तर तक समन्वयपूर्वक संसाधनों की कमी को पूरा कर सकता है।

योजना निर्माताओं को सभी बस्तियों की जानकारी न होने से अनेक बस्तियां स्वास्थ्य सेवाओं से वंचित हैं। सभी स्लम बस्तियों एवं उपलब्ध सुविधाओं को सूचीबद्ध एवं शहर के मानचित्र पर अंकित करके शहरी स्वास्थ्य योजना बनाने से सेवाओं को सभी बस्तियों तक पहुंचाया जा सकता है। स्लम बस्तियों से संपर्क वाले वॉलंटियरों का चुनाव करके शहरी गरीबों को सेवाओं से जोड़कर तथा केन्द्रों के काम के समय को गरीबों की सुविधानुसार करने से स्वास्थ्य सेवाओं के उपयोग को बढ़ाने में सहायता मिलेगी।

गुलामी का उत्सव

विनय जायसवाल

समांतर

दिल्ली में खेल होने वाले हैं जिसका नाम राष्ट्रमंडल खेल है। इसे आमतौर पर कॉमनवेल्थ गेम के नाम से जाना जा रहा है। भारतीय जनता के बड़े वर्ग में एक बड़ा भ्रम है कि भारत में जो खेल होने वाला है उसका नाम कॉमनवेल्थ है या राष्ट्रमंडल। इसे कॉमनवेल्थ ही रहने दिया जाता तो बढ़िया रहता। आखिर जनता को भ्रम भी न होता और इसका नाम भी सार्थक हो जाता। बताते हुए शर्म भी न आती कि इस खेल की कहानी गुलामी के इतिहास के साथ जुड़ी है। दुनिया के तमाम गुलाम देशों के साथ भारत भी अपनी गुलामी के बोझ को ढोने में कभी पीछे नहीं रहा। इसलिए भारत में सबसे लोकप्रिय कोई खेल है तो वह अंग्रेजों की तरह सभ्य बनने का पैमाना कहा जाने वाला क्रिकेट है।

आज हमारा देश इस बात पर बहुत गौरवान्वित महसूस कर रहा है कि कुछ ही महीनों के बाद उसे गुलामी से नवाजे जाने के नमक का हक अदा करने का न सिर्फ मौका मिलेगा, बल्कि उसका भव्य जश्न भी वह मना सकेगा। इसके अहसास से ही हमारी सरकार इतनी खुश है कि उसका मानना है कि इसका बोझ पूरे देश की जनता को उठाना चाहिए। ठीक उसी तरह, जैसे इसने गुलामी का बोझ उठाया था। खासकर दिल्ली वालों को अपना पेट काट-काट कर कॉमनवेल्थ खेलों की तैयारी में योगदान करना चाहिए। दिल्ली को आधुनिक राजधानी के रूप में बसाने का सेहरा गुलामी के ही नाम है तो फिर इसके लिए क्या हम थोड़ा-सा अपना पेट नहीं जला सकते?

आखिर गुलामी की इज्जत का सवाल है। पूरे देश के विकास का पैसा दिल्ली में खर्च किया जा रहा है और दिल्ली को चमकते पत्थरों का शहर बना देने का सपना साकार किया जा रहा है। इंसान के चेहरे पर चमक हो न हो, सड़कें चमकनी चहिए। दूर-दूर तक पेड़ हो न हो, सड़कों के किनारे पेड़ झूलते होने चाहिए। पूरे देश की जनता को पगडंडियां नसीब हों न हों, विदेशियों को दिखाने के लिए दिल्ली को फ्लाईओवरों का शहर जरूर बना देना चाहिए। पार्क और खेल के मैदान बाद में भले जंगल बन जाएं, लेकिन कॉमनवेल्थ के नाम पर उन पर करोड़ों जरूर फूंके जाने चाहिए। गरीबों को घर मिले न मिले, अमीरों को सरकारी जमीन पर आलीशान फ्लैट जरूर मिलना चाहिए।

इस बात की फिक्र करने की क्या जरूरत कि ऐसा विकास देश को खोखला कर रहा है। बड़े शहरों में लोग जमा हो रहे हैं और छोटे शहरों और गांवों में लोग अपनी बदहाली पर रो रहे हैं। बड़े शहरों में दो किलोमीटर की दूरी के लिए वातानुकूलित परिवहन सेवा है तो देश के दूसरे हिस्सों में मीलों की दूरी के लिए यातायात का कोई साधन या सड़क तक नहीं है। आखिर गुलामी के इस उत्सव का बोझ देश की जनता क्यों सहे? अगर दिल्ली का विकास करना था तो देश वालों के लिए क्यों नहीं? एक सवाल यह भी है कि 'ताजा' विकास के लिए हमें गुलामी के इस उत्सव का मोहताज क्यों होना पड़ा।

(manavaajkal.blogspot.com)

राजीव रत्न योजना गरीबों को उजाड़ने की साजिश

जनसत्ता संवाददाता

नई दिल्ली, 19 जून। राजीव रत्न योजना गरीबों को उजाड़ बिल्डरों के हाथ में सस्ते मकान पहुंचाने की साजिश है। खेल के नाम पर 44 बस्तियों को उजाड़ना किसी खेल भावना का सूचक नहीं है। इसलिए इन्हें उजाड़ कर 40 हजार बच्चों को शिक्षा व अन्य बुनियादी सुविधाओं से वंचित न किया जाए। झुग्गीवासियों का पुनर्वास शहर के तीन किलोमीटर के दायरे में किया जाए। ये प्रस्ताव जन पंचायत में पारित किए गए।

इस जन पंचायत में 30 झुग्गी बस्तियों के करीब 200 प्रधान, 40 संगठन उनके प्रतिनिधि और बड़ी संख्या में झुग्गीवासी शरीक हुए। उन्होंने चार सूत्री प्रस्ताव पारित कर कहा कि सरकार ने खेलों के नाम पर जो 44 झुग्गियों को उजाड़ने की योजना बनाई है वह अमानवीय और अव्यावहारिक है। मंच के अध्यक्ष जवाहर सिंह ने बताया कि दो साल पहले बेघरों से सरकार ने जो फार्म भरवाए थे उनकी संख्या 15-16 लाख थी। मौजूदा समय में सरकार के पास दो लाख 77 हजार 518 फार्म बचे हैं। बाकी के फार्म रद्द कर दिए गए हैं। अब अगर 44 बस्तियों को उजाड़ा जाता है तो उनके लिए पर्याप्त घर नहीं हैं।

राजीव रत्न आवास योजना के तहत सरकार ने जो घर बनाए हैं उनकी संख्या मात्र 7900 है। और आवास बनाने की योजना इतनी जल्दी पूरी हो भी नहीं सकती। जबकि इन बस्तियों के उजड़ने से 35 हजार परिवारों के 40 हजार बच्चे व 80 हजार महिला-पुरुष प्रभावित होंगे। उनका रोजगार छूट जाएगा। क्योंकि बसावट की जगह शहर के बाहरी छोर पर या उससे भी आगे हैं जहां न तो मजदूरों के लिए काम है न बच्चों के लिए स्कूल। ऐसे में वे कहां से रोजगार करेंगे। उनके बूते की बात नहीं कि इतनी दूर से आकर घरों में काम करें या मजदूरी। बसों के किराए भी बहुत अधिक हैं। रोज कमा कर पेट भरने वाला बस में खर्च करने के लिए सौ रुपए रोज के कहां से लाएगा?

सिर्फ 15 दिन के खेल के लिए इतने लोगों को बेघर करना कहां का न्याय है। मजदूरों व घरों में झाड़ू पोछा करने वालों या सफाई कर्मी के बिना शहर चल भी नहीं सकता। सब्जी-फल बिक्रेता हो या अखबार, कबाड़ खरीदने वाले, हर किसी की शहर वालों को जरूरत होती है। इसलिए इन्हें तीन किलोमीटर के दायरे में बसाया जाए।

उन्होंने कहा कि 1982 के एशियाड खेलों के लिए देश भर से मजदूर दिल्ली बुलाए गए थे। लेकिन उनके आवास की व्यवस्था सरकार नहीं कर पाई। इससे मजबूरन उन्हें झुग्गियां डालनी पड़ी। राष्ट्रमंडल खेलों के नाम पर उजाड़े जाने वालों में कई परिवार ऐसे हैं जिनके बाप-दादों ने एशियाड के समय दिल्ली को सजाया संवारा था लेकिन उनके हितों की चिंता किसी को नहीं। उन्होंने मांग की है कि पुनर्वास के लिए दिल्ली का कट आफ 90 से 1998 तक न रख कर 31 मार्च 2010 रखा जाए। राजीव रत्न योजना के तहत दूर दराज बने आवास मजबूरी में छोड़ बेच कर झुग्गी वाले फिर शहर में झुग्गी डालेंगे। इसलिए इस योजना की निंदा की गई।

राष्ट्रमंडल खेलों की आड़ में झुग्गियां उजाड़ने का विरोध

जनसत्ता संवाददाता

नई दिल्ली, 17 जून। आवास बचाओ अभियान 2010 के बैनर तले झुग्गी-झोपड़ी एकता मंच और सामाजिक संगठन राष्ट्रमंडल खेलों की आड़ में 44 झुग्गी-बस्तियों को उजाड़ने के विरोध में 19 जून को गांधी शांति प्रतिष्ठान में एक जन पंचायत करेंगे। मंच के अध्यक्ष जवाहर सिंह ने बताया कि इस सम्मेलन में अलग-अलग झुग्गी-बस्तियों के प्रधान और जिम्मेदार सदस्य और कुछ सामाजिक संगठनों के प्रतिनिधि भाग लेंगे।

जवाहर सिंह के मुताबिक इस एक दिन की पंचायत में अगले कार्यक्रमों की घोषणा की जाएगी, जिसमें इस समस्या के बारे में सरकार पर दबाव बनाने और सरकार की जन विरोधी नीति को खत्म कराने के लिए धरना, प्रदर्शन और रास्ता रोको जैसे कार्यक्रम किए जाएंगे। उन्होंने बताया कि दिल्ली सरकार ने दो साल पहले कई लाख फार्म बेघरों को घर देने के लिए भरवाए थे। जिसकी करीब संख्या 15-16 लाख थी। लेकिन सरकार के पास मौजूदा समय में कुल 2 लाख 77 हजार 518 फार्म ही बचे हैं, बाकी के फार्म इस सरकार ने रद्दी की टोकरी में फेंक दिए थे। अब अगर सिर्फ दो महीने में 44 झुग्गी-बस्ती को उजाड़ा भी जाता है तो कोई वैकल्पिक व्यवस्था दिल्ली सरकार के पास नहीं है क्योंकि सरकार ने राजीव रत्न आवास योजना में घर देने के नाम पर कुल 7900 घर ही बनाए हैं, जो ऊंट के मुंह में जीरे के बराबर हैं। और अभी भविष्य में जल्द ही ऐसे मकानों के बनाने की योजना भी सरकार पूरी नहीं कर पाएगी। अगर खेलों से पहले इन 44 झुग्गी बस्तियों और कुछ अन्य बस्तियों को उजाड़ा जाता है तो इन बस्तियों में 40 हजार छोटे बच्चे भी पढ़ाई से दूर हो जाएंगे और 80 हजार महिला और पुरुषों का काम भी प्रभावित होगा। सिर्फ 15 दिन के खेल के लिए। इसके लिए दिल्ली के बहुत से संगठनों ने और जागरूक नागरिकों ने तय किया है कि इस समस्या के खिलाफ एक बहुत बड़ा आंदोलन चलाया जाएगा और उसका एक दबाव बनाकर इस अत्याचार से झुग्गीवासियों को राहत दिलाई जाएगी।

झुग्गियों में रहने वाले बच्चों की शिक्षा पर सवाल

दिल्ली डायरी

नई दिल्ली, 24 मई (जनसत्ता)। झुग्गी झोपड़ी एकता मंच के अध्यक्ष जवाहर सिंह ने कहा कि राष्ट्रमंडल खेलों के दौरान 44 झुग्गी-झोपड़ियों को हटाया जा रहा है। इससे 40 हजार बच्चों की शिक्षा पर भी असर पड़ेगा। नई जगह जहां इनको ले जाया जाएगा, वहां पढ़ाई की कोई व्यवस्था नहीं है। उन्होंने बताया कि झुग्गी झोपड़ी एकात मंच और दूसरे संगठनों ने इस समस्या से निपटने के लिए आंदोलन की तैयारी की है। मांग की गई है कि पहले नई जगह पर स्कूलों की व्यवस्था कराई जाए। लोगों के रोजगार की भी व्यवस्था की जाए। इस आंदोलन में बस्तियों के लोगों को संगठित करने के लिए जागरूकता अभियान चलाया जा रहा है। नई शिक्षा नीति के अनुसार छह से 14 साल के बच्चों को अब शिक्षा से वंचित नहीं किया जा सकता। जिन बच्चों को सिक्षा से वंचित किया जा रहा है। उन बच्चों का मानव संसाधन मंत्री प्रधानमंत्री और दिल्ली की मुख्यमंत्री के खिलाफ मार्च होगा।

राजपूतों से आगे आने की अपील: भाजपा के पूर्व अध्यक्ष और सांसद राजनाथ सिंह ने कहा कि राजपूतों की समाज के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। वे बिजनौर संगठन के सालाना सम्मेलन में बोल रहे थे। इस मौके पर विधायक करण सिंह तंवर, प्रद्युम्न राजपूत, संगठन के कुंवर निहाल सिंह ने भी बात रखी। सम्मेलन में प्रस्ताव पास कर राजपूत संगठनों को एक मंच पर लाने और सामाजिक एकजुटता प्रदर्शित करने की अपील की गई। अध्यक्ष महेश चंद राजपूतऔर महासचिव गजेंद्र राजपूत ने भी संगठन को आगे बढ़ाने की सलाह दी।

जनगणना में सहयोग करें: अग्रवाल: प्रदेश कांग्रेस अध्यक्ष जयप्रकाश अग्रवाल ने दिल्ली के लोगों से जनगणना अभियान के दौरान आने वाले कर्मचारियों के साथ सहयोग करने की अपील की है। अग्रवाल ने सोमवार को अपने निवास पर अपने परिवार के सदस्यों की जानकारी दर्ज कराई। उन्होने जनगणना अधिकारियों की अपनाई गई प्रक्रिया की प्रशंसा भी की।

राजधानी बनेगी स्लम फ्री

स्लम और डीडीए मिलकर तैयार करेंगे पालिसी

नई दिल्ली। मुंबई की तर्ज पर दिल्ली को स्लम फ्री बनाने की तैयारी की जा रही है। स्लम कालोनियों को उनकी जमीन पर ही मल्टीस्टोरी बिल्डिंग मिलेगी और इसके जरिये इन कालोनियों का विकास किया जाएगा। कामनवेल्थ गेम्स से पहले दिल्ली को स्लम फ्री बनाने की घोषणा कर चुकी सरकार अब स्लम कालोनियों के लिए नए सिरे से पालिसी में जुटी है। नई पालिसी में स्लम कालोनियों के लिए गाइडलाइन तैयार होगी। इसकी रूपरेखा तैयार की जाएगी। स्लम एवं झुग्गी झोंपड़ी विभाग व दिल्ली विकास प्राधिकरण (डीडीए) मिलकर इस पालिसी को तैयार करेंगे। इससे दिल्ली भर में स्लम कालोनियों के चार लाख लोगों को लाभ होगा।

विकास

- जल्द बनेगी इन सीटू पालिसी एलजी की अध्यक्षता में बैठक

वर्तमान पालिसी के तहत इन कालोनियों को पुनः स्थापित करने की दिशा में कदम उठाया जाता है लेकिन देखने में यह आया है कि जमीन का समय पर इस्तेमाल न होने पर उस पर अतिक्रमण फिर से बढ़ जाता है। इन कालोनियों को विकसित करने के लिए सरकार के पास जमीन की भी कमी है। वहीं निर्धारित पालिसी न होने से इस कार्य में देरी होती है। जमीन की कमी का हल निकालने के इरादे से ही अब भविष्य में स्लम कालोनियों का विकास करने के लिए सरकार इनकी जमीन की जगह पर ही मल्टीस्टोरी बिल्डिंग तैयार कर उनका आवंटन करेगी। इस पालिसी को जल्द से जल्द लागू किया जा सके, इसके लिए उपराज्यपाल तेजेंद्र खन्ना की अध्यक्षता में एक हाई लेवल मीटिंग हुई। इसमें वित्त मंत्री अशोक कुमार वालिया भी उपस्थित थे।

सरकारी जमीन पर कब्जे और झुग्गियां

विभाग	कालोनियां	झुग्गी
डीडीए	425	1.80 लाख
रेलवे	80	60 हजार
एलएंडडीओ	60	40 हजार
एनडीएमसी	35	20 हजार
एमसीडी	25	20 हजार
स्लम एवं जेजे	15	10 हजार
ग्रामसभा	15	10 हजार
छावनी	15	10 हजार
पीडब्ल्यूडी व अन्य	125	4 हजार

विचारों में दिगंबर एक जनप्रतिनिधि

महिलाओं का जो विरोध है, वह किसी सिद्धांत, धर्म, आस्था, विश्वास या वाद की परिधि से परे है। जब भी महिलाओं की बेहतरी की बात होती है, तो सभी सिद्धांत, वाद, समुदाय, धर्म एक हो जाते हैं।

अनंत विजय लेखक पत्रकार हैं।

गोवा के मुख्यमंत्री दिगंबर कामत महिलाओं के एक सम्मेलन में बोलते-बोलते जोश में होश खो बैठे। यह जानते हुए भी कि वे जिस पार्टी के सदस्य हैं उसकी अध्यक्ष एक महिला हैं, कामत ने महिलाओं के बारे में अनावश्यक टिप्पणी कर डाली। कामत ने कहा कि महिलाओं को राजनीति में नहीं आना चाहिए, क्योंकि इससे समाज पर नकारात्मक प्रभाव पड़ता है। अब यह बात तो कामत ही बता सकते हैं कि किस तरह के नकारात्मक प्रभाव की बात वे कर रहे हैं, लेकिन उनका भाषण महिलाओं के प्रति उनकी पिछड़ी मानसिकता को प्रदर्शित कर गया।

दिगंबर कामत यह भूल गए कि भारत का लोकतांत्रिक इतिहास इस बात का गवाह है कि महिलाओं ने राजनीति में अमिट छाप छोड़ी है। कामत राजनीति में महिलाओं के आने के नकारात्मक प्रभाव पर ही बोलकर नहीं रुके। वह आगे बढ़े और यहां तक कह गए कि- 'राजनीति महिलाओं को क्रेजी बना देती है। समाज के बदलाव में महिलाओं की महती भूमिका है और उन्हें आने वाली पीढ़ी का ध्यान रखना चाहिए।' बोलने के उत्साह में कामत जो कह गए, उससे उनकी राजनीति और उनके करियर पर दूरगामी असर पड़ सकता है। लेकिन, सवाल यह उठता है कि किसी राज्य का एक चुना हुआ मुख्यमंत्री एक सार्वजनिक समारोह में इस तरह के वक्तव्य कैसे दे सकता है।

एक सूबे के सबसे जिम्मेदार पद पर बैठा आदमी, जिसने संविधान के नाम पर शपथ लेकर पद संभाला है, वह इस तरह का वक्तव्य देने के बाद भी अपने पद पर बना हुआ है? क्या कामत की संविधान में आस्था खत्म हो गई है? कामत शायद यह भूल गए हैं कि आज वह एक महिला के निर्णय की वजह से ही गोवा के मुख्यमंत्री हैं, विधायकों की पसंद की वजह से नहीं!

दरअसल, कामत का यह बयान घोर सामंती व्यवस्था की पुरुषवादी मानसिकता का बेहद कुरूप चेहरा है। उस मानसिकता का, जो महिलाओं को बच्चा पैदा करने और पालने की मशीन मानती है। परिवार की देखभाल और अपने पति की हर तरह की जरूरतों पर जान न्योछावर करने की घुट्टी जहां उसे जन्म से पिलाई जाती है। ऐसी सामंती व्यवस्था में महिलाएं गुलाम हैं, जिनका परम कर्तव्य है अपने स्वामी की सेवा, और स्वामी है पुरुष। इस पाषाणकालीन सोच में यकीन रखने वाले पुरुषों को यह कतई मंजूर नहीं कि महिलाएं भी पुरुषों के साथ कंधा से कंधा मिलाकर काम करें। महिलाओं को पुरुषों के बराबर हक और दर्जा मिले। महिलाएं देश की नीति नियंता बनें। गोवा के मुख्यमंत्री इसी सामंती और पुरुष प्रधान व्यवस्था के प्रतिनिधि हैं। उनका वक्तव्य पुरुषों के महिला विरोधी मनोविज्ञान का नमूना है।।

महिला विरोधी इसी मनोविज्ञान में मुलायम सिंह भी कह जाते हैं कि अगर संसद में महिलाओं को आरक्षण मिला तो सीटियां बजेंगी। इसी मनोविज्ञान के तहत मुस्लिम धर्म गुरु कल्बे जव्वाद भी महिलाओं के प्रति अपमानजनक बोल बोलते हैं।

तो महिलाओं का जो विरोध है, वह किसी सिद्धांत, धर्म, आस्था, विश्वास या वाद की परिधि से परे है। जब भी महिलाओं की बेहतरी की बात होती है, तो सभी सिद्धांत, वाद, समुदाय, धर्म एक हो जाते हैं- प्रबल हो जाती है कठोर पुरातनपंथी विचारधारा, जो महिलाओं को सदियों से दबा कर रखे हुए है और चाहती है कि आगे भी ऐसा ही रहे। लेकिन अब वक्त काफी आगे बढ़ गया है पर कुछ छूट गए हैं इस तरह के सामंती और दकियानूसी विचारधारा के लोग।

anant.ibn@gmail.com

आरक्षण एक्सप्रेस अभियान

भारत में महिलाओं के अधिकारों के लिए काम करने वाले संगठनों से हम महिलाएं अपनी जाति, वर्ग और धर्म पर ध्यान दिए बगैर मांग करती हैं कि 33% महिला आरक्षण विधेयक को संसद की लोकसभा में पास किया जाए। विधेयक को राज्यसभा में पास किया जाना एक महत्वपूर्ण कदम है। लेकिन यह तभी कानून बन सकेगा जब लोकसभा इसे पास कर देगी और जब कम से कम 15 राज्य विधानसभाएं इसका अनुमोदन कर देंगीं।

पंचायतों और स्थानीय निकायों में अनिवार्य आरक्षण की बदौलत लाखों महिलाएं गांवों, छोटे कस्बों और शहरों में राजनीतिक मैदान में आई हैं। आज सभी जातियों, वर्गों और धर्मों की महिलाएं भारत के राज्यों में सरपंचों, पंचायत सदस्यों, बीडीसी सदस्यों, जैड पी चेयरपर्सनों और सदस्यों, नगर क्षेत्र चेयरपर्सनों, महापौरों और पार्षदों के रूप में अपने दायित्वों को पूरा कर रहीं हैं। चुनावी मैदान में प्रवेश करने के लिए उन्हें जबरदस्त दिक्कतों का सामना करना पड़ा और उनमें से बहुत सी अपने समुदाय और सभी महिलाओं के लिए मिसाल बन गईं हैं। इसके परिणामस्वरूप महिलाओं से संबंधित मुद्दे पंचायतों और स्थानीय निकायों के एजेंडे में शामिल किए गए हैं। इस सकारात्मक अनुभव को सुदृढ़ किए जाने की आवश्यकता है।

सामाजिक न्याय और राजनीतिक प्रणाली की वैधता की दृष्टि से संसद में महिलाओं के लिए आरक्षण बहुत महत्वपूर्ण है। वर्ग और जाति की तरह लिंग भी सामाजिक आर्थिक श्रेणी है। इसमें वर्ग और जाति की विशेषताएं भी हैं। लिंग को यदि ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखा जाए तो अनुभव यही बताता है कि सभी वर्गों और 'जातियों में महिलाओं को आश्रित बना कर रखा गया है और उनका निम्न दर्जा रहा है। फर्क सिर्फ रूप का है। दलित जातियों से महिलाओं के लिए आरक्षण का जहां तक संबंध है, विधेयक में 22% अनुसूचित जाति अनुसचित जनजाति कोटे के भीतर महिलाओं के लिए 33% कोटे का प्रावधान है। विधेयक को यदि उसके वर्तमान रूप में भी पास कर दिया गया तो संसद में कम से कम 40 अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति महिलाएं होंगीं। (लोकसभा में इस समय 17 की संख्या से कहीं अधिक)।

ओबीसी महिलाओं के लिए आरक्षण का जहां तक संबंध है, यह बात समझ ली जानी चाहिए कि आरक्षण की सहायता के बगैर ही विधानसभाओं और संसद में ओबीसी का प्रतिनिधित्व उनकी आबादी के अनुपात में पहले से ही काफी हो गया है, विशेष रूप से मंडल आयोग की सिफारिशों के बाद। 14वीं लोकसभा में 50 महिला सांसदों में से 30% (15) ओबीसी श्रेणी में थीं। विभिन्न जाति/वर्ग राजनीतिक आयामों को ध्यान में रखते हुए यह बात कही जा सकती है कि जिन चुनाव क्षेत्रों से पुरुष ओबीसी उम्मीदवार जीत सकते हैं वहां से ओबीसी महिलाएं भी जीत सकती हैं। इससे संसद और राज्य विधानसभाओं में जातियों की संख्या पर कोई असर नहीं पड़ेगा।

विधायिकाओं में मुसलमान पुरुषों और महिलाओं दोनों में बहुत कम प्रतिनिधित्व की समस्या के समाधान की आवश्यकता है। लेकिन इसका महिला आरक्षण विधेयक के दायरे में समाधान या निपटान नहीं किया जा सकता। रंगनाथ मिश्र आयोग की सिफारिशों के परिणामस्वरूप शिक्षा और नौकरियों में अल्पसंख्यकों के लिए आरक्षण का मुद्दा फिर गरमाया है। सभी समुदायों की उन्नति के लिए हम महिलाएं अपने दलित, ओबीसी, मुसलमान भाइयों और धर्मनिरपेक्ष ताकतों के साथ हैं। महिलाओं के अधिकारों की प्राप्ति के लिए हम देश में सभी बहनों के साथ एकजुट होकर खड़े हैं।

हम संसद में सभी राजनीतिक दलों से आग्रह करते हैं कि वे इकट्ठे होकर लोकसभा में 33% महिला आरक्षण विधेयक को अविलंब पास कराएं। हम विधेयक का विरोध करने वाली सभी ताकतों से अनुरोध करते हैं कि वे अपने आशंकाओं को छोड़ें और देश में महिलाओं के अधिकारों और समानता के लिए सहयोग करें।

महिला आरक्षण से भय क्यों

वीना

महिला आरक्षण के खिलाफ दी जा रही दलीलें दिलचस्प ही नहीं, विस्मयकारी भी होती जा रही हैं। बड़े-बड़े दिग्गज अब मैदान में कूद पड़े हैं। कुछ समय पहले तक मामला आरक्षण के भीतर पिछड़ों को आरक्षण देने तक सीमित था। पर अब यह बहस पूरी राजनीतिक व्यवस्था को सुधारने की होने लगी है। विरोधियों का मानना है कि महिला आरक्षण विधेयक से न तो कोई फायदा है और न ही यह महिला सशक्तीकरण का सही कायदा। महिला आरक्षण आ भी गया तो पैसे की ताकत और बाहुबलियों के रुतबे में कमी नहीं आएगी। इसलिए आम आदमी की राजनीति में सक्रिय भागीदारी तय करने के लिए चुनाव प्रक्रिया में मूलभूत परिवर्तन होने चाहिए।

इनके अलावा कुछ तकनीकी दलीलें भी हैं- क्यों यह आरक्षण सिर्फ पंद्रह साल के लिए दिया जा रहा है? जबकि पंचायतों में ऐसी कोई सीमा तय नहीं की गई है। संसद और विधानसभाओं में तो महिलाओं को आरक्षण देने की बात हो रही है, पर मंत्रिमंडल में महिलाओं के लिए आरक्षण की बात क्यों नहीं हो रही है? इसलिए महिला आरक्षण विधेयक बेमानी है। महिला सशक्तीकरण के लिए राजनीतिक आरक्षण की नहीं, बल्कि (नौकरी और शिक्षा संस्थानों में) सामाजिक आरक्षण की जरूरत है। सवाल है कि क्या महिला आरक्षण विधेयक को न लाकर इन सब समस्याओं का समाधान हो जाएगा? क्या इस विधेयक के आने से सचमुच कुछ नहीं बदलेगा?

उत्तर प्रदेश और हरियाणा में गली-चौराहों पर जगह-जगह ऐसे पोस्टर और बैनर लगे हुए हैं जिनमें अवाम को आपसी भाईचारे के संदेश और तीज-त्योहारों की बधाई देती महिलाओं के मुस्कराते चेहरे नजर आते हैं। पोस्टरों में महिला के साथ-साथ उसके पति, भाई, पिता के फोटो और नाम भी चिपके हुए हैं। यह भी बाकायदा बताया जाता है कि वे फलां की बहू, बेटी या बहन हैं। बेशक, ये वे महिलाएं हैं जिनके परिवार के पुरुष पैसा-रुतबा और राजनीति में दखल रखते हैं। पर पंचायतों और नगर निगमों में दिए गए आरक्षण से पहले किसी आम गरीब औरत की तरह, ये औरतें भी घर की इज्जत को घूंघट में संभालती रही हैं।

आज तस्वीरों में इनके चेहरे फिल्मों या फैशन की नुमाइश के लिए नुमाया नहीं हैं, बल्कि ये समाज की अगुआई करने वालों में पहचानी जाएंगी, जो कि किसी भी औरत के लिए गर्व की बात है। क्या यह बगैर राजनीतिक आरक्षण के संभव हो पाता? बेटी, बहन, बीवी की तस्वीरों को सरेआम करना सामाजिक आरक्षण के बूते की बात नहीं। हां, राजनीतिक आरक्षण से सामाजिक परिवर्तन जरूर आते हैं।

पंचायतों और नगर निगमों में मिले राजनीतिक आरक्षण के चलते महिलाओं की सामाजिक स्थिति में और गांव-समाज के विकास में जो सकारात्मक बदलाव आए वे सबके सामने हैं। भले ही इन औरतों ने सत्ता के गलियारों में पहला कदम घर के पुरुष की कठपुतली के रूप बाहर निकाला हो, मगर धीरे-धीरे अधिकतर औरतों में अपनी जिम्मेदारी खुद संभालने की हिम्मत आने लगी है।

इसी तरह संसद और विधानसभाओं में भी औरतें अपनी मौजूदगी का असर छोड़ने में पीछे नहीं रहेंगी। दरअसल, समय और मौजूदा व्यवस्था का पहिया घूमता हुआ उस मुकाम पर आ पहुंचा है जहां अब महिला शक्ति को नजरअंदाज करना संभव नहीं। इसलिए विधेयक का समर्थन करने वाली सभी पार्टियां बहती गंगा में हाथ धोने का मौका नहीं गंवाना चाहतीं।

कांग्रेस अध्यक्ष सोनिया गांधी के मुताबिक महिला आरक्षण विधेयक महिलाओं को सशक्त बनाने के लिए राजीव गांधी के सपने की एक और कड़ी है। वैसे चौदह सालों तक इस सपने को ठंडे बस्ते में रखने में कांग्रेस भी बराबर की भूमिका निभाती रही है। जहां तक दिवंगत राजीव गांधी के महिला सशक्तीकरण के सपने की बात है, तो 1986 का शाह बानो मामला उनका रवैया बयान करने के लिए काफी है। राजीव गांधी सरकार ने ही संविधान में संशोधन कर मुसलिम महिलाओं को तलाक के बाद पति से मिलने वाले भरण-पोषण के अधिकार से वंचित कराया था।

आज सोनिया गांधी महिलाओं को तो राजनीति में आरक्षण दिलवाने का श्रेय ले रही हैं, पर खुद उनके अपने घर पर यह बात लागू नहीं होती। उनकी बेटी प्रियंका बेटे राहुल से पहले राजनीति में सक्रिय हुई थीं। आज राहुल की कथित लोकप्रियता के बावजूद लोग यह मानते हैं कि राहुल पर प्रियंका भारी हैं। मगर सोनिया ने सामंती परंपराओं का पालन करते हुए बेटे को परिवार की राजनीतिक विरासत लगभग सौंप दी है।

जो लोग 'परकटी' और मलाईदार तबके की महिलाओं के राजनीति पर कब्जे का हौवा पेश कर दलित, पिछड़े और अल्पसंख्यक समुदायों की महिलाओं के लिए कोटे में कोटे की मांग कर रहे हैं, क्या उन्हें पता नहीं कि मलाईदार परिवारों में भी औरतें दोयम दर्जे पर ही रखी जाती हैं?

बड़े घरानों से राजनीति में आई महिलाएं भी मानती हैं कि सभी पार्टियां महिलाओं को टिकट देने में आनाकानी करती हैं। और जब देती हैं तो ऐसे क्षेत्रों से, जहां जीतने की उम्मीद नहीं होती या बहुत कम होती है। तभी तो पंद्रहवीं लोकसभा में भी सिर्फ उनसठ महिलाएं वहां पहुंच पाई हैं।

इसलिए लोकसभा और विधानसभाओं में तैंतीस फीसद आरक्षण न देकर, सभी पार्टियों के लिए एक तिहाई सीटों पर महिलाओं को उम्मीदवार बनाए जाने की अनिवार्यता का तर्क भी बेमानी है। आज सबसे पहली जरूरत है महिलाओं की राजनीति में भागीदारी बढ़ाने की। पिछड़े वर्ग और अल्पसंख्यक समुदाय की महिलाओं की भागीदारी के नाम पर आरक्षण विधेयक का गला घोंटने की नहीं।

पिछड़े वर्ग की अगर बात करें तो आज बिना किसी आरक्षण के संसद में मौजूद सदस्यों में इस वर्ग के प्रतिनिधियों का बहुमत है। क्योंकि चुनाव जाति-समुदाय के समीकरण से जीते जाते रहे हैं। देश में पिछड़ों की तादाद किसी भी और सामाजिक वर्ग से ज्यादा है। लालू प्रसाद यादव के लिए जब खुद मुख्यमंत्री की कुर्सी पर बैठे रहना संभव नहीं रह गया तो उन्होंने अपनी पत्नी राबड़ी देवी को बिठा दिया। राबड़ी देवी चुनाव भी जीतीं। यानी पिछड़े वर्ग के लोग अगर अपनी महिलाओं को आगे लाना चाहें तो कोई ताकत उन्हें रोक नहीं सकती।

रहा सवाल अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति की महिलाओं के पिछड़ने का। महिला आरक्षण के बाद, अनुसूचित जाति और जनजाति के लिए आरक्षित एक सौ बाईस सीटों में से चालीस सीटें लोकसभा में इस वर्ग की महिलाओं के लिए सुनिश्चित हो जाएंगी। मगर बसपा जैसी दलितों की रहनुमा बनने का दम भरने वाली पार्टी इससे सहमत नहीं है। उसकी मांग है कि अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति के लिए आरक्षित सीटों को न छेड़ कर महिलाओं के लिए प्रस्तावित तैंतीस फीसद कोटे में से ही दलित और अनुसूचित जनजाति की महिलाओं को कोटा दिया जाए। यानी वह चाहती है कि इन वर्गों के पुरुषों का कोटा न घटे।

संविधान बनाते वक्त अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के हितों का खयाल रखा गया था। इसका सीधा असर इन तबकों के उत्थान पर नजर आता है। पर उस समय अल्पसंख्यकों के हितों का भी ध्यान रखना चाहिए था, ताकि विधायिका में उनका वाजिब प्रतिनिधित्व रहे। लेकिन इस बात को महिला आरक्षण से जोड़ना गलत है।

संविधान के मुताबिक साढ़े बाईस प्रतिशत सीटें इस वर्ग के लिए आरक्षित हैं। अगर इस प्रतिशत को महिला कोटे पर अलग से लागू किया जाएगा तो 543 सदस्यों वाली लोकसभा में इस वर्ग के लिए कुल आरक्षण का प्रतिशत तीस से अधिक हो जाएगा, जो कि असंवैधानिक होगा।

मुसलिम समुदाय के मौलानाओं को भी महिला आरक्षण रास नहीं आ रहा। उन्हें फिक्र है कि मुसलिम समाज में शरीफ घरानों की महिलाएं घर से बाहर कदम नहीं रखतीं; ऐसे में मुसलिम बहुल इलाकों की सीटें महिलाओं के लिए आरक्षित होने पर मुसलिम पुरुष भी वहां से लड़ नहीं पाएंगे। परिणामस्वरूप विधायिका में मुसलमानों का प्रतिनिधित्व कम हो जाएगा। मगर मुसलिम महिलाओं का नजरिया महिला आरक्षण विधेयक को लेकर बिल्कुल अलग है। उन्हें नहीं लगता कि आरक्षण के जरिए लोकसभा के लिए चुनी जाने वाली 181 महिलाओं में मुसलिम महिलाएं किसी भी कारण से पीछे छूट जाएंगी। मुसलिम बहुल इलाकों की जो सीटें आरक्षित होंगी वहां से मजबूरन मुसलिम रहनुमाओं को राजनीति में अपने समुदाय की भागीदारी बनाए रखने की जद्दोजहद के चलते घर की औरतों को संसद का रास्ता दिखाना ही पड़ेगा।

लेकिन मुसलमानों की यह आशंका निराधार नहीं है कि महिला आरक्षण विधेयक मुसलिम प्रतिनिधित्व के लिए खतरा बन सकता है। पहले ही कई मुसलिम बहुल सीटें परिसीमन के बाद अब वैसी नहीं रही हैं। दलित मुसलमानों को दलित की मान्यता नहीं मिलने के चलते वे दलितों के लिए आरक्षित सीटों पर भी नहीं लड़ पाते।

दलितों को आरक्षण देने के पीछे कई कारणों में एक कारण यह था कि किसी भी क्षेत्र में उनकी संख्या दस-पंद्रह प्रतिशत से अधिक नहीं होती। सदियों से जड़ जमाए जातिगत भेदभाव के चलते किसी दलित प्रत्याशी का जीतना लगभग असंभव हो जाता। कुछ ऐसी ही स्थिति मुसलमानों की भी है। मुट्ठी भर सीटों पर ही उनका बहुमत है, जबकि बाकी सीटों पर उनकी संख्या काफी कम है। ऐसी हालत में उन्हें उनकी जनसंख्या के अनुपात में प्रतिनिधित्व देने के लिए आरक्षण की जरूरत है।

संविधान बनाते वक्त अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के हितों का खयाल रखा गया था। इसका सीधा असर इन तबकों के उत्थान पर नजर आता है। पर उस समय अल्पसंख्यकों के हितों का भी ध्यान रखना चाहिए था, ताकि विधायिका में उनका वाजिब प्रतिनिधित्व रहे। लेकिन इस बात को महिला आरक्षण से जोड़ना गलत है। यह एक अलग मुद्दा है। और इसके मद्देनजर संविधान में एक अलग संशोधन किया जाना चाहिए, ताकि मुसलमानों को आरक्षण दिया जा सके। ऐसा कानून बनते ही महिलाओं के लिए आरक्षित होने वाली सीटों में मुसलमान महिलाओं को भी दलित महिलाओं की तरह खुद-ब-खुद आरक्षण मिल जाएगा। अच्छा हो, विरोध करने वाले सिर्फ विरोध करने के लिए विरोध न कर, महिला आरक्षण विधेयक के सकारात्मक पहलुओं पर गौर करें।

निशुल्क प्रतियों के लिए संपर्क करें -

जागोरी बी-114 शिवालीक मालवीय नगर, नई दिल्ली-110017, फ़ोनः 26691219, 26691220

email: resource@jagori.org/jagori@jagori.org

www.jagori.org